मासिक समाचारपत्र • पूर्णांक 27 • वर्ष 3 • अंक 9 • नवम्बर 2013 • पाँच रुपये • सोलह पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

साम्प्रदायिकता के खिलाफ़ गत्ते की तलवार भाँजते मौक़ापरस्त जोकरों का प्रहसन 7

"मल्टीब्राण्ड" शॉपिंग सेन्टरों की चकाचौंध में गुम होते दुकान मज़दूर 5

'लव-जिहाद' और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का जनसंख्या विज्ञान 16

चुनाव नहीं ये लुटेरों के गिरोहों के बीच की जंग है

सम्पादकीय अग्रलेख

अगले साल होने वाले लोकसभा चुनाव की महानौटंकी देश में चालू हो गयी है। उसके पहले पाँच राज्यों में हो रहे विधानसभा चुनाव सेमीफ़ाइनल बताये जा रहे हैं। चुनावी महारथियों की हुंकारें शुरू हो गयी हैं। एक-दूसरे को चुनावी जंग में धूल चटाने के ऐलान के साथ ही चुनावी हम्माम में एक-दूसरे को नंगा करने की होड़ भी मची हुई है।

जो चुनावी नज़ारा दिख रहा है, उसमें तमाम हो-हल्ले के बीच यह बात बिल्कुल साफ उभरकर सामने आ रही है कि किसी भी चुनावी पार्टी के पास जनता को लुभाने के लिये न तो कोई मुद्दा है और न ही कोई नारा। ज़ुबानी जमा खर्च और नारे के लिये भी छँटनी, तालाबन्दी, महँगाई, बेरोज़गारी कोई मुद्दा नहीं है। कांग्रेस बड़ी बेशर्मी के साथ 'भारत निर्माण' का राग अलापने में लगी हुई है, उसके युवराज राहुल गाँधी बार-बार ग़रीबों के सबसे बड़े पैरोकार बनने के दावे कर रहे हैं, मगर जनता इतनी नादान नहीं कि वह भूल जाये कि पिछले 10 वर्ष में उन्हीं की पार्टी की सरकार ने ग़रीबों की हड्डियाँ निचोड़ने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। उधर भाजपा की ओर से प्रधानमंत्री पद के प्रत्याशी नरेन्द्र मोदी अन्धराष्ट्रवादी नारों और जुमलों के साथ देश के विकास के हवाई दावों से मध्यवर्ग के एक बड़े हिस्से का ध्यान खींच रहे हैं जो गुजरात में उसकी सरपरस्ती में हुए क़त्लेआम से भी आँख मूँदने को तैयार है। गुजरात के तथाकथित विकास के लिए उन्होंने मज़दूरों को दबाने-निचोड़ने और पूँजीपतियों को हर क़ीमत पर लूट की छूट देने की जो मिसाल क़ायम की है उसे देखकर कारपोरेट सेक्टर के तमाम महारथियों के वे प्रिय हो गये हैं जो आर्थिक संकट के इस माहौल में फासिस्ट घोड़े पर दाँव लगाने को तैयार बैठे हैं। वोटों की फसल काटने के लिए दंगों की आग भड़काने से लेकर हर तरह के घटिया हथकण्डे आज़माये जा रहे हैं।

उदारीकरण-निजीकरण की विनाशकारी नीतियाँ किसी पार्टी के लिये मुद्दा नहीं हैं क्योंकि इन नीतियों को लागू करने पर सबकी आम राय है। पिछले दो दशक के दौरान केन्द्र और राज्यों में संसदीय वामपन्थियों समेत सभी पार्टियाँ या गठबन्धन सरकारें चला चुके हैं या चला रहे हैं और सबने इन्हीं नीतियों को आगे बढ़ाया है। देशी-विदेशी पूँजी की खिदमत करने के मामले में राष्ट्रीय या बड़ी चुनावी पार्टियाँ ही नहीं क्षेत्रीय स्तर के क्षत्रप भी होड़ मचाये हुए हैं।

संसदीय वामपन्थी अवसरवाद के अपने पिछले रिकार्ड को भी धता बताते हुए जयललिता जैसी महाभ्रष्ट और फासिस्ट नेताओं से लेकर उदारीकरण की नीतियों के खुले पैरोकार नवीन पटनायक और नीतीश तक के साथ मोर्चा बनाने की क़वायद में लगे हुए हैं।

(पेज 15 पर जारी)

मारुति सुजुकी मज़दूर आन्दोलन के पुनर्गठन के नवीनतम प्रयासों की विफलता

इस अफ़सोसनाक हालत का ज़िम्मेदार कौन है?

• शिशिर

हम 'मज़दूर बिगुल' के पिछले कुछ अंकों में मारुति सुजुकी मज़दूर आन्दोलन की असफलता के कारणों का विस्तृत विश्लेषण पेश कर चुके हैं। हमने आन्दोलन में मौजूद कुछ अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी, अवसरवादी और व्यवहारवादी प्रवृत्तियों की पड़ताल की थी, जिसकी नुमाइन्दगी आन्दोलन में सक्रिय कुछ संगठन कर रहे थे, जो अपने आपको "क्रान्तिकारी" नौजवानों का संगठन बताते हैं और इंक़लाबी मज़दूरों का "केन्द्र" घोषित करते हैं। ये "क्रान्तिकारी-इंक़लाबी" कॉमरेड लगातार मारुति मज़दूर आन्दोलन को एक सही रणनीति और रणकौशल अपनाने से रोकते रहे। इससे पहले कि हम मारुति सुजुकी मज़दूर आन्दोलन को पुनर्गठित करने के आख़िरी प्रयास की विफलता और उसके कारणों की पड़ताल करें, ऐसे पाठकों के लिए हम मारुति मज़दूर आन्दोलन की विफलता की त्रासदी का एक संक्षिप्त विवरण देंगे, जो कि 'मज़दूर बिगुल' में पिछली रपटों को नहीं पढ़ पाये हैं।

मारुति सुजुकी मज़दूर आन्दोलन की विफलता की त्रासदी: एक संक्षिप्त ब्यौरा

मारुति मज़दूर आन्दोलन की असफलता का सबसे बड़ा कारण था आन्दोलन के नेतृत्व द्वारा स्वयं ही मारुति सुजुकी के मसले को हरियाणा का स्थानीय मसला बना देना। आन्दोलन लगातार कैथल, गुड़गाँव, फरीदाबाद और रोहतक के चक्कर काटता रहा। पहले सीटू, एचएमएस एटक जैसी ग़द्दार यूनियनों के प्रभाव में नवम्बर 2012 से लेकर मार्च 2013 तक मारुति सुजुकी वर्कर्स यूनियन का नेतृत्व कोई भी रैडिकल कदम उठाने से कतराता रहा और श्रम मन्त्री, उद्योग मन्त्री व मुख्यमन्त्री के दरवाज़ों के चक्कर काटता रहा। इस प्रक्रिया में ही मज़दूर एक हद तक थकने लगे थे और उनमें असन्तोष पनपने लगा था कि यूनियन नेतृत्व कोई फैसलाकुन क़दम क्यों नहीं उठा रहा है। इस दौरान 'बिगुल मज़दूर दस्ता' की ओर से यूनियन नेतृत्व को लगातार दो सुझाव दिये जा रहे थे – एक, अब आन्दोलन इस मंज़िल में है कि यूनियन एक जगह खूँटा गाड़कर बैठने और अनिश्चितकालीन धरना व भूख हड़ताल का निर्णय ले; दो, यूनियन नेतृत्व को संघर्ष का स्थान हरियाणा से स्थानान्तरित कर दिल्ली ले आना चाहिए क्योंकि मारुति सुजुकी कम्पनी के मसलों का फैसला हरियाणा के मुख्यमन्त्री के डेस्क पर नहीं बल्कि केन्द्र सरकार की डेस्क पर होता है, और अगर हम मज़दूरों के मुद्दों की कोई सुनवाई चाहते हैं तो हमें राष्ट्रीय राजधानी की ओर रुख करना होगा। 9 दिसम्बर

(पेज 13 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

डॉ. अमृतपाल को चिट्ठी!

मै शमशुद्दीन जिला भागलपुर 'बिहार' का रहने वाला हूँ। बड़ी हँसती-खेलती जिन्दगी थी मेरी, माँ, बाप, बीवी व तीन बच्चे! गाँव में खेती करके अपने परिवार का पेट पाल लेता था। फिर अचानक पिता को पेशाब होना बन्द हो गयी, आसपास के सारे झोलाछाप डाक्टरों को दिखाया। किसी ने कैथाराइटर डाला (पेशाबनली) किसी ने रामबाण जड़ी-बूटी दी, किसी ने कुछ कैप्सूल देकर कोक-पेप्सी पिलाई तो किसी झोलाछाप ने पानी मे बैठने की बात कही और नतीजा कुछ नहीं निकला और तीन दिन मे पिता जी का पेट फूलकर गुब्बारा हो गया। आखिर तीन दिन बाद अमरजेन्सी मे यहाँ से 30 कि.मी.दूर मायागंज सरकारी अस्पताल मे ले गये। वहाँ तुरन्त ही पेट चीरकर पेशाबनली डाली गयी। तब जाकर स्थित काबू मे आयी। डाक्टर ने बताया कि बुढापे की ये आम बीमारी है। अक्सर बीमारी मे प्रोस्टेट फूल जाता है और पेशाब रुक जाती है। उसके बाद अल्ट्रासाउण्ड कराने पर पता लगा कि पेशाब के रास्ते मे 9 मिमी की पथरी अटकी हुई है। डाक्टर ने अगली तरीख देकर घर भेज दिया और बताया कि लेजर से इनका आपरेशन होगा। तब से तारीख पर तारीख मिली और छ: महीने बाद नम्बर आया। इन छ: महीनों मे 3रू, 5रू सैकड़े के हिसाब से करीब एक लाख रू के कर्ज का पहाड़ मेरे ऊपर लद गया। क्योंकि छ: महीने लगातार महँगी दवाई चलती रही और पेट मे नली पड़ी रही। इसके बाद मुझे मजबूरी मे अपना गाँव, शहर छोड़कर कमाने निकलना पड़ा। मुझे सिलाई करना आता था इसलिए एक्सपोर्ट लाइन मे मुझे सिलाई कारीगर की नौकरी मिल गई गुड़गाँव (हरियाणा) मे। मुझे भी अपना कर्ज पटाना था और मालिक के पास भी बहुत काम था। इसलिए रात के एक-एक बजे तक मै काम करता था। एक दिन मेरी कुछ तबीयत सही नहीं थी इसलिए मै शाम 5:30 बजे ही छुट्टी कर लिया, तो हीरो होण्डा चौक पर कुछ लोग मज़दूर बिगुल अखबार बेच रहे थे। वहाँ मैने भी अखबार लिया और वो लोग फोन न. ,पता भी माँग रहे थे। मैने अपना पता, फोन न. भी दिया। तब से मुझे मज़दूर बिगुल के छ:-सात अंक प्राप्त हो चुके हैं। और मुझे ये बिगुल अखबार पढ़ना बहुत अच्छा लगता है। ये अखबार हम मज़दूरों के लिए ढेर सारी जानकारियों का केन्द्र है। अखबार के कार्यकर्ता साथियों ने कहा कि आप भी अखवार के लिए कुछ लिखिए। इसलिए मै डॉ. अमृतपाल जी को एक चिट्ठी के रूप मे लिख रहा हूँ। डॉ. अमृतपाल जी मज़दूर बिगुल अखवार मे मुझे आपके लेख बहुत अच्छे लगते हैं। क्योंकि ये लेख जीवन की सच्चाई होती है। अप्रैल-मई-2013 के अंक मे आपने लिखा -मज़दूरों की सेहत से खिलवाड़-आखिर कौन जिम्मेदार, कि किस तरह रामप्रकाश की हल्की बीमारी को झोलाछाप डाक्टरों ने टी. बी. की बीमारी मे बदल दिया। मै भी अगर इन झोलाछापों के चक्कर मे पड़ा रहता तो शायद मेरे पिता अल्लाह को प्यारे हो जाते।

आपने सितम्बर 2013 के अंक मे लिखा 'रैनबैक्सी मामला कम गुणवत्ता वाली और नकली दवाओं के कारोबार की एक छोटी-सी झलक है।' कि किस तरह नकली दवाओं का कारोबार फल फूल रहा है, और कैसे मुनाफ़ा बढ़ाने के चक्कर मे इन्सानों की बलि चढ़ाती हैं, ये दवा कम्पनियाँ। इनके मुनाफे के आगे आम गरीबों मज़दूरों की कोई कीमत नहीं है।

आपने बिगुल के अक्टूबर 2013 के अंक मे लिखा है 'डेंगू-लोग बेहाल, डाक्टर मालामाल और सरकार तमाशाई।' इस लेख मे आपने बड़े विस्तार से 'डेंगू' की चीरफाड़ करते हुए लिखा है कि ''सैल कम'' होने का मतलब क्या होता है। और इसके लिए क्या करना होता है?कि कब-कब कम होते है ''सैल''? 'डेंगू' के लक्षण क्या हैं? ऐसे बुखारों का इलाज कैसे हो? ग्लूकोज कब लगाया जाता है? और सरकारें क्या कर रहीं हैं।?

इन लेखों से मुझे बहुत कुछ सीखने को मिला और मै तो ये मानता हूँ कि हमारे जितने मज़दूर भाई हैं। उन सब के लिए ये मज़दूर बिगुल अखबार बहुत जरूरी है। मै तो अपने और दोस्तों को भी यह अखबार पढ़वाता हूँ।

– शमशुद्दीन, गुड़गाँव

कुत्ते और भेड़िये, और हमारी फ़ैक्टरी के सुपरवाइज़र

मैंने कुत्तों और भेड़ियों की उपमाओं से नवाज़े जाते
इन्सानों के बारे में पढ़ा है
अक्सर सुना भी है
मसलन –
"कुत्ते की तरह भौंक रहा था"
"साला! पूरा भेड़िया है"

लेकिन मैंने इनको पाया अपनी फ़ैक्टरी में
मसलन कि मेरे सुपरवाइज़र
हाँ तो, मैं उन कुत्तों और भेड़ियों की बात कर रही हूँ
जो हमारी फ़ैक्टरी के सुपरवाइज़र हैं
जो बात-बेबात भौंकते हैं, दाँत चियारते हुए गुर्राते हैं
मसलन –
एक कुत्ता सुपरवाइज़र ने
अपनी माँ समान औरत को कहा:–
"ऐ हरामी क्या कर रही है
बड़ी हरामख़ोर है,
कामचोर कहीं की
मुफ़्त में तनख़्वाह ले जायेगी!"
एक दिलफेंक कुत्ता सुपरवाइज़र ने
16-17 साल की लड़की को कहा:
"ऐ मादर... क्या कर दिया तूने मशीन में?"
जब लड़की ने कहा –
"मास्टरजी गाली क्यों देते हो!"
कुत्ता सुपरवाइज़र बोला –
"तुझे गाली दूँगा, तो दिल किसे दूँगा, मेरी फुलझड़ी!!"

एक दिन एक भेड़िया सुपरवाइज़र ने
एक लड़के को एक घण्टे तक
पेशाब करने ही नहीं जाने दिया,
लगातार अपने दाँत चियारता रहा –
"कहाँ जाता है बे...
नहीं जायेगा..., कहीं नहीं जायेगा...
साला पेशाब करने जायेगा...
लाइन क्या तेरा बाप
आगे बढ़ायेगा..."
इन कुत्ता और भेड़िया सुपरवाइज़रों के तमाम
मसलन मेरे ज़हन में दर्ज हैं

मैं इन सुपरवाइज़रों की कुत्ता-वृत्ति
और भेड़िया-वृत्ति को पता नहीं
शब्दों में बाँध भी पा रही हूँ
कि नहीं
इनकी भौं-भौं और इनकी गुर्र-गुर्र
इनका विमानवीकरण
इनके दाँतों और नाख़ूनों में लगा
हमारी दम तोड़ती इच्छाओं और
स्वाभिमान का ख़ून और ख़ाल

– दिव्या
एक हौज़री मज़दूर, लुधियाना

मज़दूर बिगुल की नयी वेबसाइट
आप यहाँ देख सकते हैं:
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की महत्वपूर्ण सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। हम बिगुल के प्रवेशांक से लेकर अब तक के सभी अंक वेबसाइट पर उपलब्ध कराने के लिए काम कर रहे हैं।

आप इस वेबसाइट पर जाकर भी बिगुल की सामग्री पर अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं या कोई रिपोर्ट आदि हमें भेज सकते हैं।

मज़दूर बिगुल **'जनचेतना'** की सभी शाखाओं पर उपलब्ध है :

- **डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 फोन : 0522-2786782**
- **जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे)**
- **114, जनता मार्केट, रेलवे बस स्टेशन रोड, गोरखपुर-273009**
- **जनचेतना, दिल्ली – फ़ोन : 09971158783**
- **जनचेतना, लुधियाना – फोन : 09815587807**

मज़दूर बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलन कर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन : 0522-2335237
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigul@rediffmail.com
मूल्य	: एक प्रति – रु. 5/- वार्षिक – रु. 70/- (डाक खर्च सहित)

कारख़ाना इलाक़ों से

पीड़ा के समुद्र और भ्रम के जाल में पीरागढ़ी के मज़दूर

दिल्ली के पीरागढ़ी इलाक़े में उद्योग नगर मेटो स्टेशन के पास एक तरफ फैक्टरी इलाका है और दूसरी तरफ मज़दूरों की रिहायश है। सुबह आठ बजे से मज़दूरों के झुण्ड फैक्टरी इलाके में प्रवेश करते है तो दूसरी तरफ मज़दूरों का जत्था रात में काम करके फैक्टरी इलाके से निकलता रहता है। जैसे-जैसे समय बढ़ता है मज़दूरो की संख्या भी बढ़ने लगती है और 9 बजे के आस-पास चारों तरफ मज़दूरों का सैलाब उमड़ पड़ता है। ज्यादातर हाथ में लंच बॉक्स लिए तेज कदम से, तो कुछ आराम से फैक्टरी इलाके में प्रवेश करते है। धीरे-धीरे इनकी संख्या घटने लगती है और लाखों मज़दूर फैक्टरी में 10-12 घण्टे के लिए बंद हो जाते हैं फिर 6 बजे से देर रात तक फैक्ट्रियां से निकलते रहते हैं। पश्चिम दिल्ली का औद्योगिक इलाका जिसमें पीरागढ़ी (उद्योगनगर), मंगोलपुरी, सुल्तानपुरी, नागलोई से लेकर बहादुरगढ़ तक फैला हुआ है। यहां लाखों की संख्या में मज़दूर रहते हैं।

इलाके का इतिहास

दिल्ली में सत्तर के दशक में जब लाखों की संख्या में झुग्गी को हटाया गया तो झुग्गी में रहने वाले लोगों को 25-25 गज का प्लॉट दिया गया था। यह प्लॉट ज्वालापुरी, मंगोलपुरी, सुल्तानपुरी और नांगलोई में दिया गया था। ये लोग उस समय झुग्गी में रहने वाले मज़दूर थे जो निर्माण क्षेत्र, कारखानों में काम करते थे और सरकारी विभाग में चपरासी या सफाई कर्मचारी थे। बाद में जिनको ये प्लाट मिले थे उसमें से बहुत सारे अपना प्लाट बेचकर दूसरी जगह चले गये और फिर कोई ओर उस प्लाट का मालिक बन गया। इसमें ज्यादातर लोग यू.पी और बिहार से थे जो ज्यादातर पिछड़ी जातियों, दलित जातियों से थे और एक छोटा हिस्सा मुस्लिमों का भी था। धीरे-धीरे इन इलाकों में फैक्टरियां लगनी शुरू हुई और मज़दूरों की आबादी भी इलाके में बढ़ने लगी। 1990 के बाद जब निजीकरण और उदारीकरण की नीतियाँ लागू होने लगी तो फैक्टरी इलाका बनाना शुरू किया गया और उसी तर्ज पर उद्योग नगर औद्योगिक क्षेत्र और मंगोलपुरी औद्योगिक क्षेत्र और मंगोलपुरी औद्योगिक क्षेत्र बनाया गया। तेजी से फैक्टरियां लगनी शुरू हुई और धीरे-धीरे इलाका बढ़ता गया और आज ये नांगलोई से बहादुर गढ़ तक फैल गया है जहाँ अब हजारों की संख्या में छोटी-बड़ी फैक्टरियां चल रही हैं।

इलाके की वर्तमान स्थिति

वर्तमान में, 25-25 गज प्लाट जो झुग्गी के मज़दूरों को दिया गया था या जिसने उस प्लाट को खरीद लिया था अब 3 से 4 मंजिल का मकान बना रखा है जिसमें नीचे मकान मालिक रहता है और ऊपर के मंजिल पर किराए पर मज़दूर रहते हैं। ज्यादातर कमरे 10गुणा12 या 12गुणा15 फीट के हैं जिसमें प्रत्येक कमरे में 3 से 4 की संख्या में मज़दूर रहते हैं। कमरे का औसत किराया 2000 रूपये से 3000 रूपये तक है। मकान मालिक जो पहले ज्यादातर सफाई कर्मचारी, चपरासी या किसी फैक्टरी में काम करते थे या अभी भी कहीं काम करते हैं, उनकी आय का बड़ा स्रोत मकान से मिलने वाला किराया है। इनकी मानसिकता भी जब घर पर होते हैं तो मकान मालिक जैसी ही होती है जो किराएदार पर रौब जमाता है। मज़दूरों का सबसे बड़ा हिस्सा इसी इलाके में रहता है। इसके अलावा हाल के वर्षों में बहुत से नए इलाके भी बसे है जैसे निहार विहार, प्रेम नगर, किराड़ी, अल्वी नगर इनमें भी मज़दूरों की दूसरी बड़ी आबादी रहती है। इसके अलावा इलाके में 6-7 झुग्गी बस्ती भी हैं जिसमें लगभग सभी मज़दूर ही रहते है पर यहाँ भी झुग्गी मालिक जो खुद मज़दूरी करता है अपनी झुग्गी के ऊपर एक छोटा सा कमरा बनाकर किसी प्रवासी मज़दूर को किराए पर दे देता है। एक समय में यहाँ रहने वाले सभी लोग प्रवासी थे अब जिनका यहाँ प्लाट है वे अपने को दिल्ली वाला बताते है और जो किराए पर रह रहा है वो प्रवासी मज़दूर कहलाता है। वर्तमान में इलाके में प्रवासी मज़दूर की आबादी सबसे ज्यादा है जिसमें बड़ी संख्या बिहार, यू.पी, बंगाल से है इसके अलावा हरियाणा, उतराखण्ड, उत्तर-पूर्व के राज्य तथा छोटी सी आबादी दूसरे राज्यों से भी है। इन छोटे-छोटे कमरों में 3-4 की संख्या में रहने वाली लाखों मज़दूरों की आबादी बस रात काटने के लिए और खाना बनाकर खाने के लिए और दिन भर फैक्टरी में काम करने के लिए किसी तरह जीती रहती है। एक छोटा सा इनका भी 25 गज का प्लाट हो या गांव में जाकर थोड़ा घर बना लेने का सपना पालकर दिन रात काम करते है और छोटे-छोटे कमरे में जिन्दगी बीता देते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था ने इनको मनोरंजन के नाम पर मोबाइल दे दिया है जिसमें ज्यादातर अश्लील गाने और फिल्म को परोसा जा रहा है जिससे मज़दूरों की सामूहिकता की भावना और राजनीतिक चेतना को भी बड़ा नुकसान हो रहा है और अन्ततः मज़दूरों का ही नुकसान हो रहा है। झुग्गी इलाके में रहने वाले मज़दूरों की तो और भी बदतर स्थिति है वहाँ न पीने का पानी है, न साफ शौचालय और चारों तरफ गंदगी है। बीमारियों का प्रकोप सबसे ज्यादा इन्हीं इलाकों में होता है। इस पूरे इलाके में कांग्रेस पार्टी का दबदबा पहले से रहा है क्योंकि इंदिरा गांधी के समय से इलाके में अपने दलाल नेताओं के जरिए लोगों को छोटी-छोटी भीख देकर खुश रखती है और अपने वोट बैंक को बनाकर रखती है। इसके अलावा बीजेपी ने भी इलाके का साम्प्रदायिकीकरण करके अपने आधार को कहीं कहीं मजबूत किया है। बहुजन समाजवादी पार्टी का भी थोड़ा काम इलाके में है। चुनावी पार्टियों के अलावा विभिन्न धर्मों के धार्मिक संस्थान और इलाके में कई एनजीओ भी है जो लोगों को गुमराह करने में लगे हुए है।

फैक्टरियों में काम के हालात

उद्योग नगर और मंगोलपुरी औद्योगिक क्षेत्र में ज्यादातर फैक्टरी जूता चप्पल बनाने की है! इसके अलावा गारमेण्ट, ऑटो पार्टर्स, मेडिसन, ग्लास, सर्विस सेन्टर, काल सेन्टर तथा अनेको तरह के दूसरे उद्योग भी हैं। बाहर से चमकती इन फैक्टरियों में आये दिन दुघर्टनाएँ होती रहती है । 2011 में उद्योग नगर में जूता चप्पल की फैक्टरी मे आग लगने से 50 से ज्यादा मज़दूर जिन्दा जल गए थे। इसी तरह की एक घटना मंगोलपुरी में भी हुई थी जिसमें कई मज़दूर जल कर मर गये थे। जूता-चप्पल की इन फैक्टरियों में जहाँ प्लास्टिक के दाने से चप्पल बनाया जाता है या जूता का तल्ला बनाया जाता है, वहां काफी गर्मी होती है और चारों तरफ जूता-चप्पल का ढ़ेर लगा होता है। आग का छोटा-सा तिनका आग को पूरे फैक्टरी में फैला सकता है क्योंकि चारों तरफ प्लास्टिक का ढेर रहता है और बड़ी मशीन चलते से वहां गर्मी भी काफी होती है। मज़दूरो की सुरक्षा के नाम पर कहीं-कहीं आग बुझाने के उपकरण रखे होते है पर ज्यादातर फैक्टरी में तो आग बुझाने के उपकरण तक नहीं है। जहाँ आग बुझाने का उपकरण है भी तो वहाँ मज़दूरों को इसको चलाने की जानकारी नहीं है और न ही फैक्टरियों में इमरजेन्सी गेट होता है बल्कि उल्टे प्रत्येक फैक्टरी के बाहर भारी भरकम लोहे का गेट लगा रहता है और उसको ताला लगा कर रखा जाता है। बहुत सी फैक्टरियों में तो साफ पीने का पानी तक नहीं है और शौचालय का हाल ऐसा है कि शौचलय के पास खड़ा नहीं रहा जा सकता है। दूसरी तरफ उसी फैक्टरी में जहाँ मालिक और बड़े अधिकारी बैठते है और शौचलय जाते हैं वहाँ सबकुछ साफ-सुथरा रहता है और ए.सी. की व्यवस्था रहती है। गारमेण्ट की एक फैक्टरी में तो काम करते हुए पता चला कि वहाँ दो किस्म की चाय बनती है एक चाय बनती है मज़दूरों के लिए जिसमें 150 मज़दूरों की चाय 1 लीटर दूध से बनायी जाती है और दूसरी तरफ बड़े अधिकारीयों और मालिक के लिए चाय में थोड़ा-सा भी पानी नहीं मिलाया जाता और उनके लिए चाय बनाने वाले बर्तन भी अलग होते हैं। जिन मज़दूरों को निचोड़कर ये मालिक और अधिकारी ऐय्याशी करते है उन मज़दूरों को ये इंसान तक नहीं समझते। मज़दूरों से गाली से बात करना, उनके साथ मार-पीट करना तथा जब मन चाहे उसे काम से बाहर निकाल देना, इतना अपमान सहते हुए भी मज़दूर, पुलिस, नेता, मंत्री और बड़े ताकतवर लोगों के मजबूत गठजोड़ के खिलाफ खड़े होने की हिम्मत नहीं कर पाता है। मज़दूरों में मालिकों की ताकत का इतना खौफ है कि छुट्टी के समय मज़दूर खुद सिक्यूरिटी गार्ड के सामने जाकर अपनी जाँच कराते हैं कि वह कुछ नहीं ले जा रहा है क्योंकि मज़दूर को पता है अगर गलती से भी फैक्टरी की कोई चीज उसके साथ गयी और सिक्युरिटी गार्ड ने पकड़ लिया तो पिटाई तो होगी ही साथ में पुलिस के हवाले कर दिया जायेगा।

मालिकों का यूनियन पहले से बना हुआ है और उनका बड़ा सा एक आफिस भी है। इलाके में घुमते हुए ज्यादातर फैक्टरी में '18 साल से काम उम्र के बच्चे का काम करना मना है' का बोर्ड लगा हुआ है और कुछ फैक्टरी के सामने डिस्प्ले बोर्ड भी लगा हुआ है जो देखने से लगता है इसे 6-7 साल पहले लगाया गया होगा। इलाके में ज्यादा फैक्टरियां रजिस्टर्ड है लेकिन किसी भी फैक्टरी में न्यूनतम वेतन व अन्य श्रम कानून लागू नहीं होते। फैक्टरियों में महिला मज़दूरों की दशा तो भी खराब है। उनको पुरूष मज़दूर की तुलना में वेतन कम मिलता है तथा उनके लिए तो ज्यादातर जगह पर अलग शौचालय की व्यवस्था तक नहीं है। इसके अलावा महिलाओं से छेड़छाड़ की घटनाएं भी होती रहती हैं। ठेकेदार, सुपरवाइजर, मालिक के चमचे और मैनेजर, ये लोग ज्यादातर महिलाओं से छेड़खानी करते है क्योंकि उनको पता होता है मालिक का हाथ उनके सर के ऊपर है और उनको कुछ नहीं होने वाला है। महिलाओं का संगठन नहीं होने से अकेली महिला इन सबके खिलाफ कुछ नहीं बोल पाती है और चुपचाप सहती रहती है क्योंकि अगर बोलने पर काम से निकाल दिया गया तो घर में खाने के लाले पड़ जायेंगे।

काम की प्रकृति

जूते-चप्पल के इन फैक्टरियों में ज्यादातर काम ठेके पर होता है। मालिक किसी भी तरह की मुसीबत से बचने के लिए और बैठे-बैठे आराम से मुनाफा कमाने के लिए काम को ठेके पर दे देता है। जूते-चप्पल के काम में अलग-अलग काम के लिए अलग-अलग ठेकेदार को ठेका दिया जाता है। जैसे जूते की सिलाई के लिए एक या दो ठेकेदार को दे दिया गया, जूता से तल्ला (shole) चिपकाने के लिए भी कई ठेकेदार या एक ही ठेकेदार को उसके बाद पैकिंग के लिए भी एक या दो ठेकेदार को काम दे दिया जाता है। इसके अलावा अगर जूते या चप्पल में पैंटिग का काम है तो इस काम को भी एक पैंटिग के ठेकेदार को काम दे दिया जाता है। इन ठेकेदार से मालिक एक जोड़ी चप्पल या जूता सिलाई या पैकिंग का रेट तय करता है। अधिकांश फैक्टरियों में पुरूष मज़दूर (हेल्पर) को आठ घण्टे के लिए 3800 से 4500 रूपये मिलते है, महिला मज़दूर (हेल्पर) को 3000 से 3500 रूपये मिलते है और अर्द्धकुशल मज़दूर को 5000 से 6000 रूपया प्रति माह मिलता है जो कि दिल्ली सरकार द्वारा तय न्यूनतम वेतन का लगभग आधा है। इसके अलावा ठेकेदार जिस रेट से काम मालिक से लेता है उससे कम रेट पर अपने अर्द्धकुशल कारीगर से पीस रेट पर काम करवाता है। ठेकेदार ज्यादातर अपने गांव , क्षेत्र, धर्म के आदमी को साथ रखता है ताकि मज़दूरों को 'अपना आदमी' का भ्रम रहे। मज़दूर इस भ्रम में रहते है कि ठेकेदार अपने क्षेत्र, धर्म का या रिश्तेदार है और जो मिल रहा है उसे रख लिया जाय। जबकि ठेकेदार 'अपने' क्षेत्र या धर्म के मज़दूर के सर पर बैठकर काम करवाता है, मज़दूरों की कम चेतना का फायदा उठता है उनसे अश्लील बातें करता है और किसी दिन कुछ खिला-पिला देता है। इन सबके बीच मज़दूर अपने हक अधिकार को भूल जाता है जिसका फायदा मालिक और ठेकेदार को ही होता है। मज़दूर यह सवाल नहीं उठाता है कि अगर ठेकेदार अपना आदमी है तो मज़दूरों को जो हक अधिकार मिलने चाहिए उसके लिए क्यों नहीं वो कुछ करता है जिससे मज़दूरो का भला होगा। बहुत मज़दूर ऐसे भी हैं जो उन जगह पर

(पेज 4 पर जारी)

ऑटो सेक्टर की 'रिको फैक्ट्री' के मज़दूर से बातचीत

प्रश्न- विश्व मे बहुत भारी मुनाफा कमाने वाले (ऑटो उद्योग श्रंखला)की एक फैक्ट्री मे आप काम करते हैं। आपकी जिन्दगी मे तो खुशहाली होगी?

मज़दूर- आप खुशहाली की बात करते हैं। मुझे दस साल हो गये हैं, रिको कम्पनी मे काम करते हुए और अभी तक हम (कैजुअल) अस्थाई मज़दूर की हैसियत से काम कर रहे हैं। हमारी कम्पनी ने नियम बना लिया है कि किसी को (परमानेन्ट) स्थाई मज़दूर नहीं करेंगे। 2/3 से ज्यादा मज़दूर तो कैजुअल, अप्रैन्टिस, ट्रेनी, व ठेकेदार की तरफ से लगे हुए हैं। ऊपर से मालिक हर साल एक नई जगह (जैसे- सिड़कुल, धारूहेड़ा, दादरी) मे फैक्ट्री खोल लेता है। और एक जगह प्रोडक्सन (उत्पादन) कम करवाकर यह दिखाने की कोशिश करता है कि कम्पनी के पास आर्डर कम है जिससे कि हम मज़दूर डर जाते हैं कि काम कम है तो अब छँटनी होगी और हर आदमी अपनी नौकरी बचाने के चक्कर मे ऐसा कोई काम नहीं करता कि मैनेजमेन्ट को कहने का मौका मिले। और अनिश्चित कालीन एक सरदर्द जिन्दगी मे बना रहता है कि कहीं नौकरी न चली जाये। दस हजार की तनख्वाह मे आदमी की जिन्दगी मे क्या खुशहाली होगी?

प्रश्न- आपके हिसाब से (ऑटो उद्योग) के मज़दूरों की क्या माँगे बनतीं हैं?

मज़दूर- मेरे हिसाब से सबसे पहली माँग तो यही बनती है कि इतनी महँगाई मे हरियाणा सरकार का मिनिमम (न्यूनतम) ग्रेड जो कि 5342रू है, वो कम से कम इंसान की तरह जीवन यापन करने लायक(15000)रू होना चाहिए ।

2. ठेकेदार की तरफ से कोई मज़दूर न हो। हर मज़दूर को कम्पनी की तरफ से रखा जाये और साल मे स्थाई कर दिया जाये।

3. हर मज़दूर को फण्ड, बोनस, ई. एस.आई. की सुविधा मिलनी चहिए ।

4. हर मज़दूर को रहने के लिये मुफ्त आवास (घर) मिलना चाहिए ताकि ये जानलेवा किराया न देना पड़े। नही तो जितना किराया लगे, वो जोड़कर कम्पनी तनख्वाह के साथ दे।

5. हमारे बच्चों की पढ़ाई के लिए अच्छे स्कूल हों। यहाँ के सरकारी स्कूलों की हालत तो एकदम दयनीय है और जो मास्टर भी हैं वो हम प्रवासी मज़दूरों के साथ भेदभाव करते हैं। प्राइवेट स्कूल भी यही चाहते हैं कि सरकारी स्कूल न हो और मज़दूर महँगी फीस देकर अपने बच्चों को पढ़ायें।

6. हम ऑटो सेक्टर के मज़दूरों की एक ऑटो उद्योग मज़दूर संघर्ष समिति हो जिसमें गुड़गांव से लेकर मानेसर, धारूहेड़ा बावल तक के मज़दूर प्रतिनिधि शामिल हों जो कि पूरे इलाके के हर कम्पनी के मज़दूरों की इलाकाई संघर्ष समिति हो। क्योंकि मारूति कम्पनी व हीरो कम्पनी एक की जगह तीन-तीन वेण्डर कम्पनियों से पार्ट पुर्जे खरीदती है। ताकि अगर एक में हड़ताल हो जाये तो उन कम्पनियों का काम न बन्द हो जाये। इससे यह तो साफ हो गया है कि मालिक तो बड़ी चालाकी से हम मज़दूरों को लूट रहे है। इसलिए हम लोगों की एक ऐसी संघर्ष समिति हो जो कि मालिकों को झुकने पर मजबूर कर दे।

– बिगुल संवाददाता

कैसी ख़ुशियाँ, आज़ादी का कैसा शोर? राज कर रहे कफ़नखसोट मुर्दाखोर!

अंग्रेज़ों से आज़ादी दिलाने में जो नमक एक सशक्त प्रतीक बना था, वही नमक आज मज़दूरों को गुलामों जैसा जीवन जीने को मजबूर कर रहा है। बेहद अमानवीय हालात में रहने और काम करने को मजबूर ये मज़दूर नमक की दलदलों में अपनी हड्डियाँ गला रहे हैं और घिसट-घिसटकर मौत के क़रीब पहुँच रहे हैं।

भारत एक बहुत बड़ा नमक उत्पादक देश है। दुनियाभर में कुल नमक उत्पादन का 8 प्रतिशत सिर्फ़ भारत में उत्पादित होता है। सबसे ज़्यादा नमक का उत्पादन गुजरात, तमिलनाडु, राजस्थान और आन्ध्रप्रदेश में होता है।

तमिलनाडु के वेदर्नयम इलाक़े में सड़क से काफ़ी दूर आदिवासी कालोनी में 200 से भी ज़्यादा परिवार हैं, जो नमक की डलियाँ बनाने का काम करते हैं। समुद्री पानी से भी तीन गुना खारे (नमकीन) पानी में खड़े रहकर नमक को इकट्ठा करते हैं, छानते हैं, फिर सूखने पर उसे प्लास्टिक के पैकेट में पैक करते हैं। दिनभर नमक के दलदलों में 45-50 डिग्री तापमान की चमड़ी झुलसा देने वाली धूप में कमरतोड़ मेहनत के बाद भी उन्हें एक दिन का सिर्फ़ 50-100 रुपया मिलता है, जो न्यूनतम मज़दूरी से भी काफ़ी कम है। ज़्यादातर मज़दूर ठेकेदारों द्वारा दिहाड़ी पर रखे जाते हैं और उनके लिए सुरक्षा और स्वास्थ्य का कोई इन्तज़ाम नहीं है।

नमक के दलदलों में लगातार खड़े होकर काम करने से उनके हाथ-पैर छिल जाते हैं और उनके ख़ून-माँस तक में नमक समा जाता है, जिससे भयंकर त्वचा रोग हो जाता है। तेज़, सफ़ेद चमकीली रोशनी और नमक के बारीक़ कण उनकी आँखों की रोशनी बहुत जल्दी छीन लेते हैं और वे अन्धेपन के शिकार हो जाते हैं।

एक ओर तो नमक मज़दूर ग़रीबी और अभाव से पैदा हुए रोग, जैसे कुपोषण, एनीमिया, विटामिन बी, ए व डी की कमी को झेलते हैं, जिससे हमेशा उनके शरीर में असहनीय दर्द रहता है, असमय बूढ़े हो जाते हैं और आँखों की रोशनी चली जाती है। दूसरी ओर पेशागत जोखिम भी उठाना पड़ता है। जैसे नमक के क्षारीय-पारदर्शी बारीक़ कणों के सीधे सम्पर्क में रहने के कारण हाई ब्लडप्रेशर, कन्धे और पीठ में दर्द तो आम बात है। कुछ मज़दूर अन्धे हो जाते हैं और कुछ के आँखों का कोर्निया बढ़ जाता है, जिसे पेट्रिजिया कहते हैं। ज़्यादातर महिलाओं को गैंगरीन और घेंघा रोग (गलगण्ड) हो जाता है।

मुनाफ़े की हवस में बौराये लुटेरे मालिक और पूँजीपति नमक मज़दूरों को बिना कोई सेफ़्टी हेल्मेट, दस्ताना या जूता दिये जानवरों की तरह इन्हें नमक की दलदलों में फेंककर मुनाफ़े की हवस पूरा कर रहे हैं।

स्त्री मज़दूरों की हालत तो और भी ज़्यादा भयंकर है। नमक बनाने वाली जगह के आसपास दूर-दूर तक कोई शेल्टर (छाँव) या शौचालय तक नहीं है। महिलाएँ शौचालय जाने के डर से दिनभर कुछ खाती-पीती तक नहीं। पूरी ज़मीन समतल है और दूर-दूर तक कोई पेड़ या झाड़ी तक नहीं है, जिससे महिलाओं को मल-मूत्र तक त्यागने में दिक़्क़तें आती हैं। एक महिला ने बताया कि यहाँ गर्मी इतनी ज़्यादा होती है कि जूते भी बर्दाश्त नहीं कर पाते और नमक क्रिस्टल अन्दर घुस जाता है जिससे त्वचा ज़ख़्मी हो जाती है। मौत के बाद भी नमक मज़दूरों का पीछा नहीं छोड़ता। चूँकि नमक उनके पोर-पोर में घुस जाता है, इसीलिए मरने के बाद उनका शरीर जलता तक नहीं तो उन्हें नमक में ही दफ़्न करना पड़ता है।

यह है हमारे आज़ाद भारत की गन्दी, घिनौनी छोटी-सी झलक, जो चीख़-चीख़कर कह रही है कि –

"कैसी ख़ुशियाँ, आज़ादी का कैसा शोर? राज कर रहे कफ़नखसोट मुर्दाखोर!"

- नमिता

पीड़ा के समुद्र और भ्रम के जाल में पीरागढ़ी के मज़दूर

(पेज 3 से आगे)

काम करना पसन्द करते है जहां प्रत्येक रोज ओवर टाइम लग सके जबकि आठ घण्टे पर मिलने वाला पैसा बहुत कम होता है, इस पर खुलकर नहीं बोलता है। दूसरा ओवर टाइम भी सिंगल टाइम 10 घण्टे के बाद से शुरू होता है। इलाके में कुछ नए नियम भी बना दिए गए हैं जैसे फैक्टरी में अगर रविवार को काम बंद रहता है और कोई मज़दूर शनिवार या सोमवार किसी दिन छुटटी करता है तो उसकी दो दिन की दिहाड़ी काट ली जाती है। मज़दूरो ने भी इसे इस इलाके का कानून मान लिया है और बस काम करते रहते है। मज़दूरों के बीच ठेकेदारों ने एक भ्रम फैला रखा है कि जो लिमिटेड फैक्टरी है सिर्फ वहाँ ही श्रम कानून लागू होंगे जो कि एकदम गलत है। बहुत से मज़दूरो को यह भी भ्रम होता है कि मालिकं तो अच्छा है पर ठेकेदार बीच में मज़दूरों को निचोड़ता है जबकि मालिक जानबुझ कर काम ठेके पर करवाता है ताकि वह कोई विवाद होने पर मज़दूर और ठेकेदार का विवाद बताकर बच निकले और बैठे-बैठे कमाता रहे। बहुत सी फैक्टरियों में वेतन पर काम होता है और कुछ में ई.एस. आई. और पी.एफ. भी मिलता है । जिस फैक्टरी में वेतन पर मालिक की निगरानी में काम होता है वहां मालिकों की मनमानी चलती है और थोड़ा सा काम पर देर से आने वाले से गाली से बात की जाती है और कोई भी श्रम कानून लागू करने की बात करने पर बाहर का रास्ता दिखा दिया जाता है। कुछ फैक्टरी में काम पर रखते समय मज़दूरों से सभी पेपर लेते है (पहचान पत्र, फोटो वर्तमान पता आदि) और काम पर रखने से पहले बहुत से स्टाम्प पेपर पर हस्ताक्षर और अंगूठा लगवाया जाता है जिसमें क्या लिखा होता है मज़दूर को नहीं बताया जाता है तथा पूछने पर कहा जाता है अगर काम करना है तो इन पेपर पर अंगूठा लगाना पड़ेगा। मज़दूरों से बातचीत में पता चला कि उसमें से एक पेपर पर हस्ताक्षर इस नाम पर करवाया जाता है कि उक्त मज़दूर ने कम्पनी से 50 हजार रूपये उधार लिए है और जब भी मज़दूर फैक्टरी के खिलाफ होगा तो उसे आसानी से कानूनी मामलों में फंसाया जा सकता है। पीस रेट पर काम करने वाले मज़दूरों का पीस का रेट इतना कम रखा जाता है कि वो ज्यादा पैसे कमा ही नहीं सकते। पीसरेट पर काम करने वाले मज़दूर सुबह सबसे पहले काम शुरू कर देते है और देर शाम तक करते हैं, लंच में भी पूरा आराम नहीं करते, लंच खत्म कर तुरन्त काम पर लग जाते हैं। इन मज़दूरों में भी मालिकों ने भ्रम पैदा किया हुआ है कि यह अपना काम है जितना मर्जी है, करो और पैसा कमाओ जबकि यह मज़दूर सबसे ज्यादा देर तक काम करते रहते हैं और इनको कोई भी अधिकार नहीं मिलता है। कार्यस्थल की सुरक्षा, जीवन की सुरक्षा का प्रश्न महत्वहीन बना दिया जाता है। बस आंख मुंद कर पीस बनाओ एक ही बात ध्यान में रहती है। एक और बात जो इन मज़दूरों के बीच होती है कि ये अपने आप को कारीगर कहते है, अपने आप को मज़दूर से ऊपर समझते हैं जिसके कारण मज़दूरों की आपसी एकता नहीं बन पाती और इन सबका फायदा मालिक का होता है। जबकि मालिक किसी को भी किसी वक्त काम से निकाल सकता है, पैसा रोक लेता है, गाली-गलौच करता है और मज़दूर चुपचाप देखते रहते है और एक-एक मज़दूर को इसका खामियाजा भुगतना पड़ता है। आपसी एकता के अभाव में मज़दूर कुछ बोल नहीं पाता है और इन सबका फायदा मालिक को ही होता है। फैक्टरी में काम करने वाले ज्यादातर प्रवासी मज़दूर है। इनकी भी एक मानसिकता होती है कि काम करने आये हैं, कमाने खाने आये हैं, भैया लड़ाई झगड़े से दूर ही रहो। मालिक जो देता है चुपचाप रखो और दिन-रात काम करो तो तरक्की मिलेगी। वास्तव में वो न यहां बहुत कमा रहा है न ही अच्छी जिन्दगी जी पा रहा है। मुर्गी के दड़बेनुमा छोटे-छोटे कमरों में 3-4 आदमी रहते है। फैक्टरी में दिन रात गुलामों की तरह काम करते रहते है और ऊपर से गाली-गलौज और अपमान भी सहना पड़ता है। काम करते करते बीमारियों ने शरीर को कमजोर और बुढ़ा बना दिया है। ऐसे नारकीय जीवन को जीते रहना और कहना ''कमाने खाने आये हैं'' यह भी बहुत बड़ा भ्रम है। मज़दूरों को अगर एक इंसानी जिन्दगी जीनी है और और हक अधिकार को पाना है तो उसे संगठित होना पड़ेगा। अपने आपस की क्षेत्र, धर्म, जाति की दीवारों को तोड़ना ही पड़ेगा तथा भ्रम की दुनिया से बाहर आना होगा। इलाके की सभी फैक्टरियों के मज़दूर चाहे वो अलग-अलग काम क्यों न करते हो, को इलाके के आधार पर संगठित होना पड़ेगा क्योंकि आज एक-एक फैक्टरी का आन्दोलन जीतना संभव नहीं है। साथ ही साथ नकली लाल झण्डे वाली यूनियनों जैसे सीटू, एटक, ऐक्टू से सावधान रहना होगा क्योंकि मज़दूरों का नाम लेनी वाली ये यूनियनें मज़दूरों का सबसे अधिक नुकसान कर रही हैं। मज़दूर अपनी माँगों के आधार पर संगठित हो सकते हैं और एक सही सोच और दिशा के साथ ताकतवर यूनियन बनाकर अपने हक-अधिकार को पा सकते है।

नवीन

गुड़गाँव के "मल्टीब्राण्ड" शॉपिंग सेन्टरों की चकाचौंध में गुम होते दुकान मज़दूर

गुड़गाँव की बात होते ही लोगों की आँखों के सामने देश के औद्योगिक केन्द्र के रूप में विकासमान एक शहर की तस्वीर घूमने लगती है। कोई व्यक्ति जब यहाँ आता है तो उसका सामना सबसे पहले बड़ी-बड़ी इमारतों, मल्टी-ब्राण्ड मालों और आईटी, साफ्टवेयर और आटोमोबाइल जैसी कम्पनियों की बड़ी-बड़ी इमारतों से होता है। यह तस्वीर उस गुड़गाँव की है जिसे भारत में औद्योगिक विकास के केन्द्र के रूप में टीवी अखबारों और पत्र-पत्रिकाओं में दिखाया जाता है, या राजमार्ग संख्या आठ से गाड़ियों या बसों में बैठ कर गुजरने वाले लोगों को दिखता है। इस गुड़गाँव के बीच एक दूसरा गुड़गाँव भी है, जो इस पहले गुड़गाँव की चमक-दमक के पीछे सभी की नजरों से ओझल होकर अंधेरे में छुपा हुआ है। इन सभी इमारतों को बनाने वाले मज़दूरों से लेकर इनके रख-रखाव और इनमें काम करने वालों को सर्विस देने के लिये लाखों मज़दूर यहाँ काम करते हैं। हर दिन सुबह और शाम इस दूसरे गुड़गाँव की एक झलक हर औद्योगिक क्षेत्र की गलियों में और कापसहेड़ा, मौलाहेड़ा, राजीव चौक, मानेसर जैसी मज़दूर बस्तियों के आस-पास के इलाकों में मज़दूरों के मेले के रूप में देखी जा सकती है। इस गुड़गाँव में रहने वाले लाखों मज़दूर पहले गुड़गाँव की चमक-दमक के लिये जरूरी सारी सुख-सुविधायें उपलब्ध कराते है और देश की जीडीपी को बढ़ाने के लिये दिन रात अमानवीय परिस्थितियों में काम करते हैं। वास्तव में गुड़गाँव की चमक-दमक का बोझ इस दूसरे गुड़गाँव में रहने वाले मज़दूरों के कन्धों पर रखकर ढोया जा रहा है, जो कि इस शहर में रहने वाले मध्य-वर्ग की सुविधाओं के लिए और देश की औद्योगिक प्रगति के लिये धमनियों में रक्त के संचार की तरह दिन-रात काम में लगे रहते हैं।

पूरा बाजार देशी-विदेशी विलासिता के सामानों से पटा हुआ है और मध्यवर्ग के बीच इन सामानों को बेचने के लिये कई शापिंग सेन्टर यहाँ लगातार खुल रहे हैं। दुनिया के करोड़ों मज़दूरों द्वारा नारकीय हालात में काम करके पैदा किया गया विलासिता का यह सामान इन शापिंग मालों की "सुन्दरता" बढ़ाने के लिए सजा-धजा कर प्रदर्शन के लिए रखा जाता है। गुड़गाँव जैसे शहरों में रहने वाले मध्यवर्ग की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए इन इलाकों के कोने-कोने में मल्टीनेशनल ब्राण्ड के शापिंग सेण्टर, जैसे बिग-बाजार, रिलायंस, विशाल और , 'कैफे कॉफी डे', पिज्जा हट और शराब के ठेके, खाने के रेस्टोरेंट सहित कई छोटी-छोटी दुकानें खुल रही हैं। गुड़गाँव की एक विशेषता यह है कि यहाँ चिकित्सालय या पुस्तकालय ढूँढ़ने पर भी मुश्किल से मिलते हैं, लेकिन शराब के ठेके हर गली-नुक्कड़ से लेकर शापिंग मालों तक मौजूद हैं। इसी को पूरी दुनिया में देश के विकास की तस्वीर के रूप में दिखाया जाता है। जो किसी को नहीं दिखाया जाता वह यह कि इन सभी दुकानों में मज़दूरों की एक बड़ी आबादी सेवा कार्यों में लगी है जो अत्यन्त दयनीय स्थिति में अपना गुजारा कर रही है। इनमें समान को घरों में पहुँचाने वाले, दुकानों में मदद करने वाले, रेस्तराओं में खाना बनाने और परोसने वाले से लेकर अनेक सर्विस कार्य करने वाले असंगठित और अकुशल मज़दूर शामिल हैं। बड़े-बड़े रिटेल स्टोरों के साथ अपना व्यापार करने वाले कुछ छोटे क्षेत्रीय व्यापारी भी अपनी दुकानों में काम के लिए मज़दूरों को रखते हैं, और इन मज़दूरों की काम की परिस्थितियां भी लगभग बड़े-बड़े ब्राण्डों की दुकानों में काम करने वाले मज़दूरों जैसी ही होती है, फर्क सिर्फ इतना है कि इनमें मालिक भी उनके साथ देखभाल करता है। जैसे-जैसे पूँजी का विस्तार हो रहा है और मल्टी ब्राण्ड किराना सेण्टर खुल रहे हैं इन सभी छोटी दुकानों का भविष्य भी अपने अन्त की ओर बढ़ रहा है। ध्यान देने वाली बात यह है कि मध्य-वर्ग को सुविधायें देने के काम में लगे मज़दूर स्वयं उस सामान को कभी इस्तेमाल नहीं कर सकते जो इन शापिंग सेण्टरों में बेचा जाता है।

आम तौर पर लोगों का ध्यान इन कामों में लगे मज़दूरों के काम और जिन्दगी के हालात पर नहीं जाता। वास्तव में इन मज़दूरों की स्थिति भी कम्पनियों में 12 से 16 घण्टे काम करने वाले मज़दूरों जैसी ही है। इन सभी सेण्टरों में काम करने वाले यूपी-उत्तराखण्ड-बिहार-बंगाल-उड़ीसा-राजस्थान जैसे कई राज्यों से आने वाले लाखों प्रवासी मज़दूर दो तरह की तानाशाही के बीच काम करते हैं। एक ओर काम को लेकर मैनेजर या मालिक का दबाव लगातार इनके ऊपर बना रहता है और दूसरा जिस मध्य-वर्ग की सेवा के लिये उन्हें काम पर रखा जाता है उसका अमानवीय व्यवहार भी इन्हें ही झेलना पड़ता हैं। दुकानों और रेस्तराँ में ये मज़दूर लगातार काम के दबाव में रहते हैं, लेकिन ग्राहकों के सामने बनावटी खुशी और सेवक के रूप में जाने की इन्हें ट्रेनिंग दी जाती है। ये मज़दूर सिर्फ शारीरिक श्रम ही नहीं बेचते बल्कि मानसिक रूप से अपने व्यक्तित्व और अपनी मानवीय अनुभूतियों को भी पूँजी की भेंट चढ़ाने को मजबूर होते हैं। "आजाद" देश के इन सभी मज़दूरों को जिन्दा रहने के लिये जरूरी है कि किसी मालिक के मुनाफे के लिये मज़दूरी करें।

कुछ दुकानों में काम करने वाले मज़दूरों से बात करने पर वे बताते हैं कि वे सप्ताह के सातों दिन 13 से 14 घण्टे काम करते हैं, और उन्हें महीने की 4 से 6 हजार रुपये मज़दूरी मिलती है। इन मज़दूरों को बीमार होने या त्यौहारों पर कोई छुटी नहीं मिलती, बल्कि त्यौहारों के दौरान इन पर काम का बोझ और बढ़ जाता है। इन्हें कई बार लगातार हर दिन 18 से 20 घण्टों तक ओवरटाइम करना पड़ता है ताकि त्यौहारों के दौरान खरीददारी पर टूट पड़ने वाले मध्य-वर्ग की जरूरत पूरी की जा सके। इन सभी मज़दूरों को छुटी अपनी मज़दूरी कटवाकर ही मिलती है। 24 घण्टे चलने वाली कुछ दुकानों में किसी भी मज़दूर को कभी भी ओवरटाइम के लिये रोक लिया जाता है, जो उसे बिना किसी शर्त के करना पड़ता है। इन सभी दुकानों में मज़दूरों को मनमानी शर्तों पर ठेके पर रखा जाता है और कोई भी श्रम कानून इनके लिए लागू नहीं होता। मालिक कभी भी इन्हें बिना शर्त काम से निकाल सकता है। मध्य-वर्ग के खाए-अघाये ग्राहकों की सुविधा की कीमत भी इन मज़दूरों को चुकानी पड़ती है। डोमिनोज और पिज्जा-हट जैसी दुकानें अपने ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए 30 मिनट में डिलीवरी या फ्री-डिलीवरी के जो दावे करती हैं उसका बोझ भी मज़दूरों के ऊपर ही पड़ता है, क्योंकि यदि डिलीवरी में थोड़ी भी देर हो जाती है तो डिलीवरी करने वाले मज़दूर की मज़दूरी काट ली जाती है। ऐसी स्थिति में इन डिलीवरी करने वालों पर लगातार एक मनौवैज्ञानिक दबाव बना रहता है।

कई मज़दूरों से बात करने पर पता चला कि इनमें से ज़्यादातर नौजवान हैं, जो पहले किसी न किसी कम्पनी में काम कर चुके हैं, लेकिन वहाँ काम के दबाव और काम की अमानवीय परिस्थितियों के कारण उसे छोड़ कर बेहतर काम की तलाश में यहाँ आए। कई मज़दूरों का कहना था कि कारखानों में लगातार एक साल काम करना उनके लिये सम्भव नहीं होता तो वे साल में कुछ दिन कभी रिक्शा चलाते हैं तो कभी इन सेवा कामों में अपनी किस्मत आजमाते हैं। लेकिन कुछ दिन काम करने के बाद उन्हें इसकी सच्चाई भी पता चल जाती है और फिर कहीं काम तलाश करने के लिये निकल पड़ते हैं। श्रम विभाग का कोई अधिकारी कभी इन मज़दूरों की हालात का जायजा लेने नहीं आता। किसी राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन का आधार इन मज़दूरों के बीच नहीं है। जानकारी का कोई स्रोत इनके सामने नहीं है। ज़्यादातर मज़दूर अपने अधिकारों के बारे में भी नहीं जानते और न ही इन्हें इतिहास के मज़दूर आन्दोलनों और मज़दूरों के संघर्षों के बारे में कुछ पता है।

पूरी दुनिया में आज क्या चल रहा है और सरकारें उनके "उद्धार" के लिये क्या-क्या कर चुकी है, और क्या और करने जा रही है, इन सबकी जानकारी से बेखबर ये मज़दूर सिर्फ दो वक्त की रोटी जुटाने के लिए लगातर 12 से 16 घण्टे काम में लगे रहते हैं। इनके पास न ही सोचने का कोई वक्त होता है और न अपने परिवार के साथ बिताने के लिए समय। लगातार बढ़ रहे मध्य-वर्ग के बाजार में देश-विदेश की काम्पनियों में पैदा होने वाले विलासिता के सामान को बेचने के लिए और देश की "तरक्की" में चार-चाँद लगाने के लिए ये मज़दूर इंसानों की तरह नहीं बल्कि मशीनों की तरह काम में लगे हुए हैं। हर शहर में एक बड़ी आबादी होने के बावजूद किसी का ध्यान इनके अस्तित्व की ओर नहीं जाता। गुड़गाँव में काम पर लगे लाखों मज़दूरों की जिन्दगी की यह एक छोटी सी झलक भर है। वास्तव में कपड़ा बनाने से लेकर कारें बनाने तक अनेक उद्योगों में काम पर लगे अनेक मज़दूर यहाँ अमानवीय परिस्थितियों में काम करते हैं जिन्हें पूँजीवादी व्यवस्था में बिना किसी "भ्रष्टाचार" के सारे अधिकारों से बेदखल करके अंधेरी गन्दी बस्तियों में काम करते रहने के लिये धकेल दिया गया है।

एक रिपोर्ट के मुताबिक भारत में 90 फीसदी से अधिक लोगों का मासिक खर्च 4500 रु. से कम है। देश की इस 90 फीसदी आबादी को अपनी आमदनी किन परिस्थितियों में काम करके हासिल करती है इसका अन्दाज इन मज़दूरों को देख कर लगाया जा सकता है (द हिन्दू, 14 जुलाई 2013)। कोई भी राजनीतिक पार्टी इन काम करने वालों की स्थिति के कारणों पर बात नहीं करती। इस अमानवीय असमानता और मज़दूरों के शोषण पर चल रही पूरी पूँजीवादी व्यवस्था में हो रहे इस खुले भ्रष्टाचार का विरोध न तो केजरीवाल जैसे लोग करते हैं जो स्वयं को "आम आदमी" का नेता कहते हैं, और न ही कोई और संसदीय राजनीतिक पार्टी। चाहे कांग्रेस हो या बीजेपी हो सभी के शासन में देश के "विकास" से सापेक्ष इन 90 फीसदी लोगों की बर्बादी में इजाफा ही हुआ है। आजकल हिन्दूवादी कट्टरपन्थी राजनीति की मुखिया बीजेपी मोदी के "विकास" के नाम पर भ्रामक प्रचार कर और देश में एक साम्प्रदायिक माहौल बनाकर जनता को मूल मुद्दों से भटकाकर समर्थन हासिल करने की कोशिश कर रही है, जिसका मुख्य उद्देश्य है पूँजीवाद को खुले दमन का विकल्प देना जो आने वाले समय में घोर गरीबी और बर्बादी में जीने वाले मज़दूरों द्वारा उठाई जाने वाली न्याय की आवाज को कुचलने के काम आएगा। देश में चलने वाले कई गैर सरकारी संगठन (NGO) भी कभी मज़दूरों की इन अमानवीय परिस्थितियों पर कोई सवाल नहीं उठने, बल्कि वास्तव में इनका अस्तित्व ही इसलिये है कि पूँजीवाद में जो आम मेहनतकश जनता बर्बाद होती है उसे कुछ सुधार कार्य करते हुये लोगों को शान्त बनाये रखें। मज़दूरों को यह सच्चाई समझनी होगी कि सभी संसदीय पार्टियाँ उनके लिये नहीं, बल्कि देशी-विदेशी बैंकरों, पूँजीवादी ठेकेदारों, उद्योगपतियों और दलालों की पार्टियाँ हैं, जो मज़दूरों की मेहनत से बने पूरे देश के सभी संसाधनों पर सरकार की मदद से अपने अधिकार को बनाये हुए है। संविधान के पन्नों में समाज को बनाने और चलाने वाली इस मेहनतकश आबादी को "समानता का अधिकार" मिला हुआ है, लेकिन इनके पास कोई सम्पत्ति नहीं है, और यदि है तो एक छोटा सा जमीन का टुकड़ा, जिसके कारण पूरे देश की यह आबादी आर्थिक रूप से पूरी तरह से पूँजीपतियों-ठेकेदारों के यहाँ उनकी मनमानी शर्तों पर अपना श्रम बेचने को मजबूर हैं। ऐसे में सवाल यह उठता है कि क्या वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के रहते इन मज़दूरों की स्थिति में कोई सुधार सम्भव है? आज जरूरी है कि ये सारे मज़दूर नये सिरे से एक व्यापक आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक बदलाव के लिये संगठित होकर पूँजीवादी शोषण दमन-उत्पीड़न के विरुद्ध एक विकल्प खड़ा करने के लिये आगे आएँ।

– राजकुमार

पूँजीवादी पाशविकता की बलि चढ़ते मासूम बच्चे

अक्सर कहा जाता है कि किसी भी समाज के लिए बच्चे ही उसका भविष्य होते हैं। भविष्य की इस पीढ़ी की सुरक्षा की जिम्मेदारी भी समाज पर ही निर्भर होती है। लेकिन जिस समाज की नींव लूट-खसोट और निर्मम शोषण पर टिकी हो, जहाँ मेहनतकश पुरूष और स्त्रियों के अलावा बच्चों के श्रम की एक-एक बूँद को निचोड़कर सिक्कों में ढाला जाता हो, क्या उस समाज में यह भविष्य महफूज़ रह सकता है? कतई नहीं!

राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो (एनसीआरबी) की हालिया रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2001-2011 की अवधि के दौरान बच्चों के खिलाफ़ बलात्कार के मामलों में 335 फीसदी का इज़ाफा हुआ है। इस रिपोर्ट के अनुसार इन दस सालों की अवधि में बच्चों के खिलाफ बलात्कार के कुल 48,338 मामले दर्ज हुए हैं। इसमें सबसे अधिक मामले मध्य प्रदेश (9456) में सामने आये हैं। हालाँकि सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि स्थिति इससे कई गुना खराब है क्योंकि रिपोर्ट किए गए अधिकतर मामलों को पुलिस दर्ज तक नहीं करती है। आइए, कुछ अन्य तथ्यों पर भी गौर करें। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के अनुसार भारत में हर साल हर आयु वर्ग के 44,000 से भी अधिक बच्चे लापता हो जाते हैं। देह व्यापार में हर साल 10 लाख बच्चों-बच्चियों, युवतियों को जबरन धकेला जाता है। आमतौर पर बच्चों के खिलाफ होने वाले अपराधों में बलात्कार, यौन व्यापार, वेश्यावृत्ति के लिए होने वाली खरीद-फरोख़्त, अवैध मानव व्यापार और मानव अंगों का अवैध प्रत्यारोपण आदि बड़े पैमाने पर शामिल है।

ऊपर दिए गए आँकड़ों के जरिए हमारा मूल मकसद है उस भयावह तस्वीर की ओर ध्यान खींचना जो इन आँकड़ों के माध्यम से नजर आ रही है। इसमें कोई दो राय नहीं कि बच्चों के खिलाफ़ होने वाले अपराधों का शिकार आमतौर से गरीब परिवारों और निम्न मध्यम वर्गीय परिवारों से आने वाले बच्चे होते हैं। अक्सर ही ऐसे परिवारों में गुजर बसर के लिए स्त्री और पुरूष दोनों को ही मेहनत मज़दूरी करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। हालाँकि 12-14 घंटे लगातार अपना हाड़-मांस गलाने के बावजूद उन्हें इतनी कम मज़दूरी मिलती है कि बमुश्किल ही गुजारा हो पाता है। ऐसे हालात में बच्चे घरों में अकेले रह जाते हैं, वे असुरक्षित होते हैं इसलिए तमाम अपराधियों का आसानी से शिकार बनते हैं।

सवाल यह उठता है कि आखिर बच्चों के खिलाफ ऐसे अपराध हो ही क्यों रहे हैं और पिछले कुछ साल से इन अपराधों में बेहताशा बढ़ोत्तरी की वजह आखिर क्या है? पहले हम उन कारणों की चर्चा करेंगे जिन्होंने बच्चों, स्त्रियों के खिलाफ होने वाले बलात्कार के मामलों में बढ़ोत्तरी का काम किया है। पूँजीवादी व्यवस्था चूँकि बहुसंख्यक मेहनतकश जनता के ऊपर परजीवी धनिकों की एक छोटी सी आबादी द्वारा कायम एक शोषणकारी सामाजिक व्यवस्था है इसलिए इसके इतिहास के कई खूनी अध्याय मेहतनकशों की लूट और उनके दमन, बर्बर कत्लेआमों, सामाजिक अपराधों और पाशविक घटनाओं से भरे हुए हैं। पूँजीवाद ने न केवल स्त्रियों और बच्चों की श्रम शक्ति को एक 'माल' में तब्दील किया है बल्कि स्वयं उन्हें भी एक 'माल' में बदल दिया है। पूँजीवाद की सड़ी गली बीमार संस्कृति ने कुंठित मानसिकता से भरे 'पशुओं' में इस 'माल' का उपभोग करने की हवस पैदा कर दी है। एक तरफ पूँजीवाद में धनपशुओं का एक ऐसा तबका पैदा हो गया है जो सिर से पांव तक विलासिता में डूबा है। पाशविक दुराचार में लिप्त पैसे के घमंड में चूर इस तबके को न पुलिस का डर है न कानून का। निठारी की घटना ऐसे ही धनपशुओं की पतनशीलता का एक प्रतीक उदाहरण थी। इसके अलावा न जाने ऐसी कितनी ही पाशविक घटनाएं रोज-ब-रोज इन खाये-पिये अघाये धनपशुओं के पैसे की गर्मी में दब जाती हैं। दूसरी तरफ, पूँजीवाद ने मेहनतकशों की आबादी को विपन्नता के जिस अंधेरे में धकेल दिया है उसके चलते मेहनतकशों की एक आबादी का जो विमानवीकरण हो रहा है उसने लम्पट अपराधियों की एक जमात भी पैदा कर दी है जो स्त्री और बच्चियों के खिलाफ अपराधों में लिप्त हैं। इसी का प्रातिनिधिक उदाहरण 16 दिसम्बर की घटना थी। इसके अलावा सदियों से चली आने वाली पितृसत्तात्मक मानसिकता ने इन अपराधों की बढ़ोत्तरी में खाद पानी देने का काम किया है।

हमने ऊपर जिक्र किया था कि बच्चों के खिलाफ़ होने वाले अपराधों में बलात्कार के अलावा यौन व्यापार, मानव अंगों के अवैध प्रत्यारोपण जैसे मामले शामिल हैं। आज बड़े पैमाने पर कई हजार करोड़ों का कारोबार यौन व्यापार और वेश्यावृत्ति के जरिए फलफूल रहा है। रूपये-पैसे की हवस के लिए खड़े किए गए इस कारोबार ने मासूम बच्चों की बलि लेने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। केवल बच्चों के यौन शोषण का कारोबार ही आज 11 हजार करोड़ रूपए का है। मानव अंगों के अवैध प्रत्यारोपण के बाद स्त्रियों और बच्चों से जबरन वेश्यावृत्ति कराने का धंधा सबसे बड़ा कारोबार बन चुका है। इंटरनेट पर अश्लील चित्रों के लिए बच्चों के शोषण का कारोबार अरबों डॉलर का बन चुका है। बड़े पैमाने पर इन तमाम घिनौने धंधों के लिए गरीब बस्तियों में बच्चों को अगवा किया जाता है। इस काम को अंजाम देने के लिए बाकायदा कई अपराधी गिरोह सक्रिय है जो गरीब मेहनतकशों के बच्चों को निशाना बनाते हैं।

बलात्कार का शिकार हुई बच्चियों या लापता हुए बच्चों के गरीब माँ बाप जब पुलिस में रिपोर्ट लिखवाने का साहस करते हैं तो पुलिस महकमे के लोग अक्सर ही तानों-फिकरों से उनका ''स्वागत'' करते हैं, गाली-गलौज करते हैं और पैसों की माँग तक करते हैं। दिल्ली के गांधी नगर में पांच साल की छोटी बच्ची के साथ हुई बलात्कार की घटना के बाद पुलिस ने बच्ची के परिवार वालों से पैसों की माँग करके फिर एक बार बेहयाई का परिचय दिया। गरीब पृष्ठभूमि के बच्चों के खिलाफ होने वाले अपराधों के मामलों में अवल्लन तो एफआईआर दर्ज ही नहीं होती और अगर ऐसा इत्तेफाक से हो जाये तो पुलिस महज इसे खानापूर्ति के लिए करती है। अपराधियों को सजा दिलाने का व गुमशुदा बच्चों को तलाशने का कोई प्रयास नहीं किया जाता है। निठारी की घटना के समय भी लम्बे समय से बच्चे गायब हो रहे थे। अपने बच्चों की गुमशुदगी की शिकायत लेकर जब लोग थाने में जा रहे थे तो पुलिस उन शिकायतों को दर्ज करना तो दूर बल्कि लापता बच्चों के परिवार वालों को डरा धमकाकर और अपमानित कर भगा रही थी। पुलिस तंत्र में गरीबों और उनके बच्चों के प्रति जो गहरी संवेदनहीनता है उसके चलते तो उससे किसी प्रकार की उम्मीद लगाना खुद को धोखे में रखना है।

गरीब व मेहनतकशों के बच्चे इस मानवद्रोही, पाशविक, पूँजीवादी व्यवस्था में कतई सुरक्षित नहीं है। गरीबों के बच्चों के साथ यह घटनाएं तब तक होती रहेंगी जब तक पूँजीवादी व्यवस्था मौजूद है। बच्चों की सुरक्षा का सवाल व्यवस्था परिवर्तन के सवाल से जुड़ा है। एक ऐसा समाज जहां मुनाफे की अंधी हवस नहीं इंसानों की जरूरतें केन्द्र में होंगी, जहां एक पतनशील संस्कृति नहीं बल्कि एक उन्नत स्वस्थ संस्कृति होगी वही समाज ही बच्चों को बेहतर सुरक्षा मुहैया करा सकता है। ऐसे समाज को लाने की लड़ाई एक लम्बी लड़ाई होगी पर इसकी शुरूआत वो हमें करनी ही होगी। इससे बचने का मतलब होगा कि हम इस आदमखोर व्यवस्था द्वारा हमारे मासूम बच्चों की बलि लेते देखे जाने के लिए अभिशप्त हो जायेंगे।

- श्वेता

मोदी के गुजरात "विकास" का सच

भारतीय जनता पार्टी के प्रधानमन्त्री पद के उम्मीदवार नरेन्द्र मोदी आजकल चुनावी रैलियों में बाक़ी पार्टियों को पानी पी-पीकर कोस रहे हैं और गुजरात में होने वाले "विकास" पर फूले नहीं समा रहे हैं। कांग्रेस, सपा, बसपा को कोसते हुए कह रहे हैं कि गुजरात में हर जगह सुख-सुविधा, अमन-चैन है। बाक़ी जगह माँएँ अपने बच्चों को लेकर आशंकित रहती हैं कि वो शाम को सही-सलामत घर लौटेगा या नहीं। गुजरात पहुँचने पर कहती हैं कि अब मुझे चैन आया कि तू गुजरात पहुँच गया अब मुझे कोई चिन्ता नहीं। अब मैं चैन से सो सकती हूँ।

लेकिन उनके शाइनिंग गुजरात की पोल खोलते हुए कैग की ताज़ा रिपोर्ट अभी सामने आयी कि गुजरात में कुपोषण और कम वज़न के बच्चे सबसे ज़्यादा हैं।

महिला एवं बाल विकास मन्त्री वासुबेन त्रिवेदी ने राज्य सभा में कहा कि इस अगस्त में राज्य के 14 ज़िलों में लगभग 6.13 लाख बच्चे ऐसे हैं जो कुपोषण और अत्यधिक कुपोषण के शिकार हैं। अकेले अहमदाबाद ज़िले में, जोकि राज्य की औद्योगिक राजधानी है, 85,000 से भी ज़्यादा बच्चे भूख और कुपोषण के शिकार हैं। मन्त्री ने संसद में बताया कि सिर्फ़ अहमदाबाद शहर में ही 54,975 बच्चे कुपोषित और 3,860 भयंकर कुपोषण के शिकार हैं। गुजरात में हर तीन में से एक बच्चा कम वज़न का है।

अर्जेण्टीना के प्रसिद्ध लेखक एदुआर्दो खालियानो का यह कथन याद आता है कि **"जिस धरती पर हर अगले मिनट एक बच्चा भूख या बीमारी से मरता हो वहाँ पर शासक वर्ग की दृष्टि से चीज़ों को समझने के लिए लोगों को प्रशिक्षित किया जाता है। लोग व्यवस्था को देशभक्ति से जोड़ लेते हैं और इस तरह व्यवस्था का विरोधी एक देशद्रोही या विदेशी एजेण्ट बन जाता है। जंगल के क़ानून को पवित्र रूप दे दिया जाता है, ताकि पराजित लोग अपनी हालत को नियति समझ बैठें।"**

एक तरफ़ कुपोषण और भूख से बच्चे मर रहे हैं और दूसरी तरफ़ गोदामों में अनाज सड़ रहा है। एक तरफ़ जहाँ ग़रीबों के मुँह का निवाला छीन लिया जाता है, वहीं दूसरी तरफ़ अमीरों का एक ख़ुशहाल तबक़ा ऐसा है जो जितना खाता है, उससे ज़्यादा बर्बाद करता है।

यह सोचना कठिन नहीं है कि गुजरात में "विकास" हुआ है तो किसकी हड्डियों को चूसकर। और मोदी चाहे जितना चिल्ल-पों मचा ले जनता से यह सच्चाई छुपी नहीं है कि चाहे मोदी हो, यूपी सरकार या केन्द्र सरकार, मेहनतकशों के ख़ून से ही कुछ हिस्से को "विकास" का तोहफ़ा मिल रहा है।

"विकास" के रथ के पहिये हमेशा ही मेहनतकशों के ख़ून से लथपथ होते हैं। "विकास" के तमाम दावों का मतलब होता है मज़दूरों की लूट-खसोट में और बढ़ोत्तरी।

- नमिता

साम्प्रदायिकता के खिलाफ़ गत्ते की तलवार भाँजते मौक़ापरस्त जोकरों का प्रहसन

30 अक्टूबर को दिल्ली में 'साम्प्रदायिकता विरोधी सम्मेलन' में चुनावी वामपंथी दलों, समाजवादी पार्टी, राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी, जनता दल (एकीकृत), जनता दल (सेक्यूलर), बीजू जनता दल, अन्ना द्रमुक, असम गण परिषद और कुछ अन्य क्षेत्रीय दलों सहित सत्रह दलों का जुटान हुआ। साम्प्रदायिकता के नये आक्रामक उभार और नरेन्द्र मोदी पर चिन्ताएँ प्रकट की गयीं और धर्मनिरपेक्ष ताक़तों की एकजुटता के क़समे-वादे, प्यार-वफ़ा की बातें की गयीं।

मज़े की बात यह है कि चुनाव-पूर्व किसी तीसरे मोर्चे की गठन की सम्भावना से सबने इन्कार किया, क्योंकि एक ही तराजू पर चढ़े मेढ़कों की इस जमात में प्रधानमंत्री का सपना देखने वाले कई मुंगेरी लाल हैं। भारतीय बुर्जुआ संसदीय राजनीति की स्थिति ही आज ऐसी है कि किसी एक मुंगेरीलाल के सपने साकार भी हो जायें तो ताज्जुब नहीं।

मज़े की बात यह भी है कि सेक्यूलरों के इस जमावड़े में मायावती का आना सम्भव नहीं था क्योंकि वहाँ मुलायम सिंह थे, ममता बनर्जी नहीं आ सकती थीं क्योंकि वाम दल थे, द्रमुक नहीं आ सकता था क्योंकि अन्नाद्रमुक था, पासवान और लालू के लोग नहीं आ सकते थे क्योंकि नीतीश कुमार-शरद यादव थे। इसलिए इन्हें न्यौता नहीं गया। न्यौता भाकपा (मा.ले.) (लिबरेशन) को भी नहीं गया, सो दिल में दुख लिए दीपांकर भट्टाचार्य ने उसी दिन पटना की सड़क पर अपनी रैली कर डाली।

दिल्ली में जुटे साम्प्रदायिकता-विरोधियों के राजनीतिक आचरण का इतिहास ज़रा खँगाला जाये। नीतिश कुमार ने इस आयोजन से एक दिन पहले राजगीर में हुए अपनी पार्टी के चिन्तन-शिविर में नरेन्द्र मोदी को हिटलर और उनकी राजनीति को फासीवादी राजनीति की संज्ञा तक दी थी। नरेन्द्र मोदी और भाजपाइयो-संघियों के ''इतिहास-ज्ञान'', फेंकूपन और ग़लतबयानियों की बखिया उधेड़ने वाले नीतिश कुमार और उनकी पार्टी से पूछा जाना चाहिए कि क्या नरेन्द्र मोदी के उभार के बाद ही भाजपा का चरित्र बदलकर फासीवादी हो गया है? भाजपा जब जनसंघ के रूप में पैदा हुई थी, तभी से इसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। यह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का संसदीय भोंपू मात्र थी और संघ अपने जन्म से ही एक फासीवादी संगठन रहा है। फासीवादी संगठनों की अपनी एक सुनिश्चित विचारधारा, संरचना और कार्यप्रणाली होती है। समय की ज़रूरत के हिसाब से, वे छवि गढ़ने और प्रचारित करने की अपनी विशेष तकनीक अपनाते हुए नये नायक के साँचे में नये नेता को आगे करते हैं। आज उन्हें आडवानी-जोशी ब्राण्ड नहीं बल्कि एक ऐसे मॉर्डन फासीवाद नेता की दरकार थी जो पुरानी पीढ़ी के व्यापारियों और सवर्ण कट्टरपंथियों के साथ-साथ, उनसे भी अधिक, नये व्यापारियों और कारपोरेट कल्चर में रचे-पगे खाते-पीते मध्यवर्गीय युवाओं को अपील करे, जो प्राचीन भारत के गौरव की बात करे, पर विकास और आधुनिकता की बातों पर और मॉर्डन रंग-ढंग वाले उग्र राष्ट्रवाद और उग्र हिन्दुत्व पर बल दे। ऐसे ही घोड़े पर, पूँजीवादी व्यवस्थागत संकट के इस दौर में वित्तीय और ओद्योगिक महाप्रभु दाँव लगा सकते थे। इस मामले में मोदी की तुलना में सुषमा या जेटली भी कहीं नहीं ठहरते। इसीलिए संघ ने सबको पीछे ढकेलकर मोदी को आगे किया। मोदी पिछड़ी जाति का होने का दावा ठोंककर धनी और मझोले किसानों का वोट भी बटोर सकता है। वैसे भी कई धाराओं-उपधाराओं में बँटकर चरणसिंह की गाँधीवादी- नरोदवादी किसान राजनीति के, पूँजीवादी विकास के वर्तमान दौर में, विघटन की तार्किक परिणति के बाद, धनी और खुशहाल मालिक किसान भारतीय समाज में फासीवाद का नया ग्रामीण आधार बन रहे हैं और इनके बीच भाजपा का वोट बैंक तेजी से बढ़ा है।

शरद यादव-नीतिश कुमार की पार्टी 17-18 वर्षों से भाजपा की संगी-साथी रही है। नीतिश कुमार का यह कहना सफ़ेद झूठ है कि ''अटल-आडवाणी युग'' में भाजपा पर संघ का विचारधारात्मक प्रभाव था, लेकिन उसके राजनीतिक कार्रवाइयों में कोई दखल नहीं था। पहली बात तो यह कि यदि फासीवाद का विचारधारात्मक प्रभाव भी था तो भाजपा का चरित्र फासीवादी ही हुआ। दूसरी बात यह कि भाजपा कभी भी संघ के निर्देशों से अलग निर्णय नहीं लेती रही हैं यह एक मिथक है कि अटल बिहारी वाजपेयी बाबरी मस्ज़िद गिराये जाने के विरोधी थे। उनका चेहरा भाजपा के कई चेहरों में से एक था। आडवानी को आगे करके रामजन्मभूमि ''आन्दोलन'' का उग्र हिन्दुत्ववादी माहौल बनाया गया और वाजपेयी को आगे करके पतित समाजवादियों और क्षेत्रीय दलों का राष्ट्रीय मोर्चा बनाया गया क्योंकि केवल उग्र हिन्दुत्व के वोट बैंक से भाजपा का केन्द्र में सरकार बना पाना सम्भव नहीं था, यह बात सिद्ध हो चुकी थी। नीतिश कुमार किन लोगों की आँखों में धूल झोंक रहे हैं? गुजरात नरसंहार के समय उनका ज़मीर कहाँ था? उस समय जॉर्ज फर्नाण्डीज़, शरद यादव और वे स्वयं केन्द्र की वाजपेयी सरकार में मंत्री थे। केन्द्र सरकार पर गुजरात मामले पर विरोध जताते हुए कार्रवाई के लिए उन्होंने क्या कोई दबाव बनाया था? उस समय नरेन्द्र मोदी के फासीवाद के खिलाफ़ वे कुछ क्यों नहीं बोले? यदि उसूलों की बात थी तो उस समय उन्होंने एन.डी.ए. क्यों नहीं छोड़ा? बात उसूल की है ही नहीं, सिर्फ़ चुनावी गणित की है। बात यह है कि जो छल-छद्म करके, भाजपा के साथ सरकार चलाते हुए नीतिश कुमार ने लालू से टूटे मुस्लिम वोट बैंक के एक हिस्से को और पासवान से टूटे अतिदलितों के एक हिस्से को अपने साथ रखा था, वह भाजपा द्वारा नरेन्द्र मोदी को प्रधानमंत्री पद का प्रत्याशी बनाये जाने के बाद उनका साथ छोड़ सकता था। दूसरे, राष्ट्रीय राजनीति की तरल परिस्थिति में, तीसरे मोर्चेनुमा किसी खिचड़ी में किसी का भी दाँव लग सकता था (गुजराल और देवगौड़ा तक का लग गया था।) और नीतिश कुमार को धर्मनिरपेक्षता के घोड़े पर दाँव लगाने में ज़्यादा फ़ायदा दिखने लगा था।

नीतिश कुमार शरद यादव से लेकर मुलायम सिंह तक – सभी लोहिया और जे.पी. की बहुत दुहाई देते हैं। सच तो यह है कि साम्प्रदायिक फासीवाद के प्रति लोहिया और जयप्रकाश का रुख वैसा ही ढुलमुल और समझौतापरस्त रहा, जैसा यूरोप में फासीवाद के प्रति वहाँ के सामाजिक जनवादियों का रहा। दो संसद सदस्यों वाले जनसंघ को बुर्जुआ संसदीय राजनीति में सम्मानित और शक्तिशाली बनाने में 1960 और '70 के दशक में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका लोहिया और जयप्रकाश नारायण की थी। यह कांग्रेसी शासन में लागू पूँजीवादी विकास की नीतियों के संकट और उनके परिणामों से पैदा हुए व्यापक मोहभंग का नतीजा था कि 1967 में कई राज्यों में संयुक्त विधायक दल (संविद) सरकारें बनीं, जिनमें सोशिलस्टों और संसदीय कम्युनिस्टों (यह कलंक भाकपा-माकपा भी कभी मिटा नहीं सकेंगे) सहित सभी ग़ैर कांग्रेसी दल शामिल थे। कांग्रेस-विरोध के अतिरिक्त दरअसल लोहिया के ग़ैर कांग्रेसवाद के इस अमली रूप के पास अपना रत्ती भर सुधारवादी क़िस्म का भी कोई कार्यक्रम नहीं था। नतीज़तन, बुर्जुआ संसदीय राजनीति का वह संक्रमणकाल जैसे ही बीता, संविद सरकार की सतमेल खिचड़ी बिखर गयी। आपातकाल के तात्कालिक फासीवादी दौर का विरोध करते हुए जयप्रकाश नारायण ने संघी फासीवादियों को भी साथ लिया और जनता पार्टी में जनसंघ को शामिल किया। जनसंघ तब भी उतना ही फासिस्ट था। उसकी विचारधारा और कार्यक्रम वही थे जो आज हैं।

मुलायम सिंह की साम्प्रदायिकता-विरोध की राजनीति भी शुद्ध रूप से उ.प्र. में वोटों के गणित पर आधारित है। एक समय, जब उन्हें लगने लगा था कि मुस्लिम वोट बैंक में बसपा प्रभावी सेंध लगा रही है तो लोध जाति को साथ लेने के लिए बाबरी मस्ज़िद ध्वंस के एक प्रमुख अपराधी कल्याणसिंह को गले लगाते उन्हें देर नहीं लगी। फिर जैसे ही लगा कि यह घाटे का सौदा है तो उन्होंने कल्याण सिंह से पीछा छुड़ा लिया। मुलायम सिंह की पार्टी मुख्यत: धनी किसानों और क्षेत्रीय, छोटे पूँजीपतियों के हितों का प्रतिनिधित्व करती है (और बड़े पूँजीपतियों के एक हिस्से का दिल जीतने की भरपूर कोशिश करती रहती है) और उसका चुनावी आधार पिछड़ी जातियों के मालिक किसानों और मुस्लिम आबादी के बीच है। नव उदारवाद की नीतियों से उन्हें कोई परहेज नहीं है। अंधराष्ट्रवाद और कम्युनिज्म-विरोध उन्होंने लोहिया से विरासत में पायी है। सपा मुख्यत: जिन वर्गों का प्रतिनिधित्व करती है, वे घनघोर मज़दूर विरोधी हैं और उनकी निरंकुशता फासीवाद के सीमान्तों को छूती है। यदि वोट बैंक के गणित की मज़बूरी न हो तो मुलायम सिंह को भाजपा से गलबहियाँ डालने में कोई परहेज नहीं होगा। कहने की ज़रूरत नहीं कि बसपा का साम्प्रदायिकता विरोध भी इतना ही अवसरवादी है। यह पार्टी दलितों के बीच से उभरे नितान्त प्रतिक्रियावादी चरित्र वाले दलित खुशहाल मध्यवर्ग और दलित छोटे बुर्जुआ वर्ग की पार्टी है, जिसका दलित आबादी के बीच ठोस वोट बैंक है। हर बुर्जुआ पार्टी से छिटके नेताओं की यह पनाहगाह है और भाजपा के साथ सरकार चलाकर अपने सेक्यूलर चरित्र का यह पहले ही प्रदर्शन कर चुकी है।

दिल्ली के साम्प्रदायिकता-विरोधी जमावड़े में जितने भी क्षेत्रीय दल शामिल थे, वे सभी कभी-न-कभी भाजपा के साथ सरकारें चलाते हुए मधुयामिनी व्यतीत कर चुके हैं। ये सभी क्षेत्रीय पार्टियाँ मुख्यत: कृषि और उद्योग क्षेत्र के क्षेत्रीय/छोटे पूँजीपतियों के वर्ग-हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली पार्टियाँ हैं और इनका अपना बुर्जुआ जनवाद भी अत्यंत संकुचित और विकृत विकलांग हैं। नवउदारवाद के इस ज़माने में धनी किसान और छोटे पूँजीपति भारतीय पूँजीवादी संसदीय राजनीति के दायरे में भी, बड़े इजारेदार पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध जुझारू तेवर के साथ कोई लड़ाई लड़ पाने की क्षमता नहीं रखते। वे ज़्यादा से ज़्यादा निचोड़े गये अधिशेष में अपनी भागीदारी बढ़ाने और सर्वव्यापी पूँजीवादी संकट का ज़्यादा बोझ अपने ऊपर न डालने के लिए बड़े पूँजीपति वर्ग पर दबाव बना सकते हैं। और दबाव बना सकते हैं। क्षेत्रीय और छोटी बुर्जुआ पार्टियों का आचरण इसी वर्ग-समीकरण से तय होते हैं। सत्ता में भागीदार बनने के जुगाड़ में इनमें से कोई भी पार्टी यूपीए, एनडीए, प्रस्तावित किसी तीसरे मोर्चे या ममता बनर्जी प्रस्तावित फेडरल फ्रण्ट जैसे किसी भी मोर्चे के साथ चादर डाल जा बैठ सकती है। शरद पवार की राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी ने भी अपने सभी पत्ते खुले रखे हैं।

जहाँ तक संसदीय सुअरबाड़े में साठ वर्षों से लोट लगाते चुनावी वामपंथी भाँड़ो की बात है, उनकी स्थिति सर्वाधिक हास्यास्पद है। ये चुनावी वामपंथी आर.एस.एस. भाजपा को शुरू से ही हिन्दुत्ववादी फासीवादी मानते हैं, पर ग़ैर कांग्रेस-ग़ैरभाजपा विकल्प बनाने की कोशिश में जिन दलों के साथ साम्प्रदायिकता-विरोधी सम्मेलन कर रहे हैं, उनमें से अधिकांश कभी न कभी सत्ता की सेज पर भाजपा के साथ रात बिता चुके हैं। रही बात मुलायमसिंह की, तो वह कई बार इन्हें दुत्कार चुके हैं। फिर भी इन चुनावी वामपंथी खोमचेवालों से पूछा जाना चाहिए कि फासीवाद के विरोध की रणनीति के बारे में बीसवीं सदी के इतिहास की और मार्क्सवाद की शिक्षाएँ क्या हैं? क्या फासीवाद का मुक़ाबला मात्र संसद में बुर्जुआ दलों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाकर किया जा सकता है? अगर ये बात बहादुर मज़दूर वर्ग की पार्टी होने का दम भरते हैं (और इनके पास सीटू और एटक जैसी बड़ी राष्ट्रीय ट्रेड यूनियनें भी हैं) तो 1990 (आडवानी की रथयात्रा), 1992 (बाबरी मस्ज़िद ध्वंस), या 2002 (गुजरात नरसंहार) से लेकर अब तक हिन्दुत्ववादी फासीवाद के विरुद्ध व्यापक मेहनतकश जनता की लामबंदी के लिए इन्होंने क्या किया है? इन घटनाओं के बाद देश भर के शहरी ग्रामीण मज़दूरों को धार्मिक कट्टरपंथी फासीवाद विरोधी एक राष्ट्रीय रैली में भी इन्होंने जुटाने की कोशिश की? संघ परिवार का फासीवाद एक सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन है और मेहनतकश जनता का जुझारू आन्दोलन ही इसका मुक़ाबला कर सकता है। लेकिन इन संशोधनवादी पार्टियों ने तो साठ वर्षों से मज़दूर वर्ग को केवल दुअन्नी-चवन्नी की अर्थवादी लड़ाइयों में उलझाकर उसकी चेतना को भ्रष्ट करने का ही काम किया है। इनकी ट्रेडयूनियनों के भ्रष्ट नौकरशाह नेताओं ने मज़दूरों की जनवादी चेतना को भी कुन्द बनाने का

(पेज 12 पर जारी)

पेरिस कम्यून : पहले मज़दूर राज की सचित्र कथा (बारहवीं किस्त)

आज भारत ही नहीं, पूरी दुनिया के मज़दूर पूँजी की लुटेरी ताक़त के तेज़ होते हमलों का सामना कर रहे हैं, और मज़दूर आन्दोलन बिखराब, ठहराव और हताशा का शिकार है। ऐसे में इतिहास के पन्ने पलटकर मज़दूर वर्ग के गौरवशाली संघर्षों से सीखने और उनसे प्रेरणा लेने की अहमियत बहुत बढ़ जाती है। आज से 141 वर्ष पहले, 18 मार्च 1871 को फ्रांस की राजधानी पेरिस में पहली बार मज़दूरों ने अपनी हुकूमत क़ायम की। इसे पेरिस कम्यून कहा गया। उन्होंने शोषकों की फैलायी इस सोच को ध्वस्त कर दिया कि मज़दूर राज-काज नहीं चला सकते। पेरिस के जाँबाज़ मज़दूरों ने न सिर्फ़ पूँजीवादी हुकूमत की चलती चक्की को उलटकर तोड़ डाला, बल्कि 72 दिनों के शासन के दौरान आने वाले दिनों का एक छोटा-सा मॉडल भी दुनिया के सामने पेश कर दिया कि समाजवादी समाज में भेदभाव, ग़ैर-बराबरी और शोषण को किस तरह ख़त्म किया जायेगा। आगे चलकर 1917 की रूसी मज़दूर क्रान्ति ने इसी कड़ी को आगे बढ़ाया।

मज़दूर वर्ग के इस साहसिक कारनामे से फ्रांस ही नहीं, सारी दुनिया के पूँजीपतियों के कलेजे काँप उठे। उन्होंने मज़दूरों के इस पहले राज्य का गला घोंट देने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा दिया और आख़िरकार मज़दूरों के कम्यून को उन्होंने ख़ून की नदियों में डुबो दिया। लेकिन कम्यून के सिद्धान्त अमर हो गये। पेरिस कम्यून की हार से भी दुनिया के मज़दूर वर्ग ने बेशक़ीमती सबक़ सीखे। पेरिस के मज़दूरों की कुर्बानी मज़दूर वर्ग को याद दिलाती रहती है कि पूँजीवाद को मटियामेट किये बिना उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। 'मज़दूर बिगुल' के मार्च 2012 अंक से दुनिया के पहले मज़दूर राज की सचित्र कथा की शुरुआत की गयी थी, जिसकी अब तक ग्यारह किस्तें प्रकाशित हुई हैं।

इस शृंखला की शुरुआती कुछ किश्तों में हमने पेरिस कम्यून की पृष्ठभूमि के तौर पर जाना कि पूँजी की सत्ता के ख़िलाफ़ मज़दूरों का संघर्ष किस तरह क़दम-ब-क़दम विकसित हुआ। हमने जाना कि कम्यून की स्थापना कैसे हुई और उसकी रक्षा के लिए मेहनतकश जनता किस प्रकार बहादुरी के साथ लड़ी। हमने यह भी देखा कि कम्यून ने सच्चे जनवाद के उसूलों को इतिहास में पहली बार अमल में कैसे लागू किया और यह दिखाया कि "जनता की सत्ता" वास्तव में क्या होती है। पिछली कुछ कड़ियों में हमने उन ग़लतियों को भी समझा जिनकी वजह से कम्यून की पराजय हुई। इन ग़लतियों को ठीक से समझना और पूँजीवाद के ख़िलाफ़ निर्णायक जंग में जीत के लिए उनसे सबक़ निकालना मज़दूर वर्ग के लिए बहुत ज़रूरी है।

कम्यून की शिक्षाओं की रोशनी में सर्वहारा का मुक्ति संघर्ष विजयी होगा

ऊपर: कम्यून के लाल झण्डे की अगुवाई में पेरिस के जांबाज़ मज़दूरों ने बैरिकेडों की लड़ाई में पूँजीपतियों की फौज का डटकर मुक़ाबला किया।
दायें: कम्यून की घोषणा के बाद कम्यून की सरकार की हिफ़ाज़त में डटे हुए हथियारबन्द मज़दूरों का दस्ता।

1. पिछले अंकों में हमने मज़दूर वर्ग के इतिहास की सबसे प्रेरणादायी गाथा के बारे में जाना। किस प्रकार फ्रांस में नेपोलियन तृतीय ने द्वितीय साम्राज्य के चरमराते शासन में कुछ जान फूँकने की कोशिश में जुलाई, 1870 में प्रशिया के ख़िलाफ़ युद्ध की घोषणा की थी; किस तरह वह बुरी तरह हारा और प्रशिया की फ़ौज के सामने पेरिस को अरक्षित छोड़ दिया; किस तरह सितम्बर 1870 में एक पूँजीवादी गणतन्त्र की घोषणा की गयी और तथाकथित राष्ट्रीय प्रतिरक्षा सरकार का गठन हुआ; किस तरह इस सरकार ने दुश्मन से घिरे शहर के साथ दगाबाज़ी की और किस तरह पेरिस की जनता उठ खड़ी हुई और अपने बचाव के लिए खुद को हथियारबन्द किया; जब सरकार ने उनके नेशनल गार्ड (रक्षक दल) को निहत्था करने का प्रयास किया तो कैसे पेरिस की जनता ने 18 मार्च को कम्यून की घोषणा कर दी और नगर के शासन को अपने हाथों में ले लिया; कैसे विश्वासघाती थियेर सरकार वर्साय भाग गयी और वहाँ प्रशियाइयों के साथ मिलकर उसने कम्यून को उखाड़ फेंकने की साज़िश रची; और किस प्रकार पेरिस के मज़दूरों ने 72 दिनों तक कम्यून को क़ायम रखा और उस वक़्त अपने ख़ून की आखिरी बूँद तक उसकी हिफ़ाज़त की जब वर्साय की सेना नगर में घुस आयी और उन दसियों हज़ार औरतों और मर्दों को मौत के घाट उतार दिया जिन्होंने राजधानी के शासन पर क़ब्ज़ा करने तथा शोषितों और वंचितों के हित में इसे संचालित करने की हिम्मत की थी।

2. जहाँ कहीं भी मज़दूर इस बहादुराना संघर्ष की कहानी एक बार फिर सुनने के लिए इकट्ठा होंगे – एक ऐसी कहानी जो बहुत पहले ही सर्वहारा शौर्य-गाथाओं के ख़ज़ाने में शामिल हो चुकी है – वे 1871 के शहीदों की स्मृति को गर्व के साथ याद करेंगे। और साथ ही वे आज के वर्ग संघर्ष के उन शहीदों को भी याद करेंगे जो या तो मार डाले गये या पूँजीवादी देशों के क़ैदख़ानों में अब भी यातना झेल रहे हैं, क्योंकि उन्होंने अपने उत्पीड़कों के ख़िलाफ़ बग़ावत करने की हिम्मत की थी, जैसा कि पेरिस के मज़दूरों ने करीब डेढ़ सौ साल पहले किया था।

3. लेकिन मज़दूर केवल कम्युनार्डों की बहादुराना कार्रवाइयों से ही प्रेरणा नहीं लेंगे, जो कार्ल मार्क्स के शब्दों में "स्वर्ग पर धावा बोलने को तैयार" थे। वे कम्यून की कहानी को उसकी उपलब्धियों के साथ-साथ उसकी उन ग़लतियों और कमियों की रोशनी में भी फिर से देखेंगे जिसके लिए पेरिस के मज़दूरों को इतनी भारी क़ीमत चुकानी पड़ी थी।

जिस वक़्त पेरिस में मज़दूर अपने वर्ग शत्रुओं से लोहा ले रहे थे और एक नये समाज की रचना कर रहे थे उस समय मार्क्स लगातार इस ऐतिहासिक घटनाक्रम पर नज़र रखे हुए थे और मज़दूरों को सलाह रहे थे।

4. कम्यून ने अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर वर्ग को कई सबक दिये। सर्वहारा वर्ग के नेताओं मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने कम्यून के अनुभवों का गहराई के साथ अध्ययन किया और रूसी मज़दूरों ने मज़दूरों के राज को मज़बूती से स्थापित करके यह दिखाया कि पहली सर्वहारा क्रान्ति की इन शिक्षाओं को उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया था। उसके बाद दुनिया के अनेक देशों में मज़दूरों की अगुवाई में मेहनतकश जनता का शासन क़ायम हुआ और दुनिया से शोषण और ग़ैर-बराबरी को ख़त्म करने की दिशा में महान डग भरे गये। इन सबमें पेरिस कम्यून की मशाल उन्हें रास्ता दिखाती रही। "स्वर्ग के स्वामियों" ने अपनी पुरानी दुनिया को बचाने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा दिया और मज़दूर वर्ग के भितरघातियों-ग़द्दारों ने उनकी पूरी मदद की। नयी दुनिया रचने की इस जद्दोजहद में मज़दूर वर्ग के नेताओं से भी कुछ ग़लतियाँ हुईं। आज दुनिया के पैमाने पर मानव मुक्ति की लड़ाई में सर्वहारा की सेना को जीते हुए मोर्चे हारकर पीछे हटना पड़ा है। लेकिन इन हारों से भी सबक लेकर मज़दूर वर्ग एक बार फिर उठ खड़ा हुआ और इस बार पूँजीवाद-साम्राज्यवाद को हमेशा के लिए क़ब्र में सुलाकर ही दम लेगा, यह तय है।

5. कम्यून की चालीसवीं वर्षगाँठ पर 1921 में रूसी क्रान्ति के नेता **लेनिन** ने लिखा, "आधुनिक समाज में सर्वहारा, जिसे पूँजी द्वारा आर्थिक रूप से गुलाम बना लिया गया है, तब तक राजनीतिक रूप से शासन नहीं कर सकता जब तक वह उन बेड़ियों को तोड़ न दे जो पूँजी के साथ उसे बाँधती हैं। इसीलिए कम्यून को समाजवादी दिशा पर आगे बढ़ना चाहिए था, यानी उसे पूँजीपति वर्ग के शासन, पूँजी के शासन को उखाड़ फेंकने की कोशिश करनी चाहिए थी और मौजूदा सामाजिक व्यवस्था की बुनियाद को ही नेस्तनाबूद करने की कोशिश करनी चाहिए थी।" 1917 में जब रूसी मज़दूरों ने महान सोवियत कम्यून की स्थापना की तो उनके पास अधिक अनुकूल वस्तुपरक परिस्थितियों के साथ-साथ उन्हें नेतृत्व देने के लिए सर्वहारा की एक ऐसी सुदृढ़ क्रान्तिकारी पार्टी मौजूद थी, जो पेरिस के मज़दूरों के पास नहीं थी।

कम्यून फ़्रांसीसी मज़दूर वर्ग की महान परम्परा है। पेरे लाशेज़ की ख़ामोश दीवारें (जहाँ कम्युनार्डों को गोली मारी गयी थी) फ़्रांसीसी मज़दूरों को उनके सर्वहारा पूर्वजों की बहादुरी की याद दिलाती हैं, जो उजरती गुलामी से मुक्ति के लिए संघर्ष में उतर पड़े थे। कम्यून समूचे सर्वहारा की विरासत भी है। यह पहली ऐसी क्रान्ति थी जिसमें मज़दूरों ने सिर्फ़ संघर्ष ही नहीं किया बल्कि उसे नियन्त्रित भी किया और सर्वहारा लक्ष्य की दिशा में मोड़ दिया।

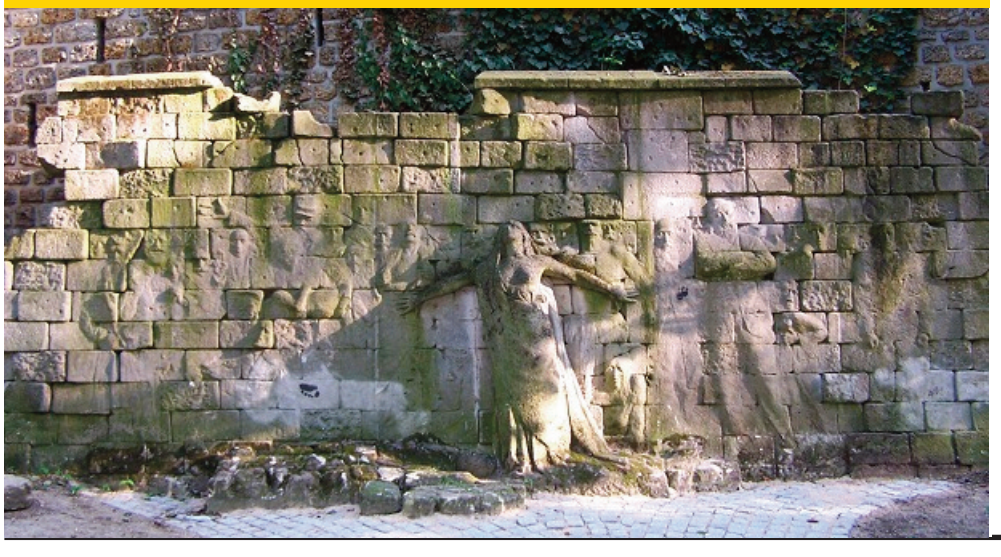

पहले इण्टरनेशनल की सभा में पेरिस कम्यून पर रिपोर्ट पेश करते हुए कार्ल मार्क्स

6. पेरिस कम्यून क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग की युग-प्रवर्तक उपलब्धि है। अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर संघ (पहले इण्टरनेशनल) में अपने ऐतिहासिक 'सम्बोधन' के अन्त में मार्क्स के शब्द थे – "मज़दूरों के पेरिस और उसके कम्यून को नये समाज के गौरवपूर्ण अग्रदूत के रूप में हमेशा याद किया जायेगा। इसके शहीदों ने मज़दूर वर्ग के महान हृदय में अपना स्थान बना लिया है। इसका संहार करने वालों को इतिहास ने सदा के लिए मुजरिम के ऐसे कटघरे में बन्द कर दिया है जिससे उनके पुरोहितों की सारी प्रार्थनाएँ भी उन्हें छुड़ाने में नाकाम रहेंगी।"

(अगले अंक में जारी)

‘लव-जिहाद’ और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का जनसंख्या विज्ञान

(पेज 16 से आगे)

से कम रहती थी। इसलिए कबीले की जनसंख्या बनाए रखने के लिए ऐसा प्रचलन शुरू हुआ, मगर समय के साथ यह अमीरों के लिए ऐश उड़ाने के लिए औरतों का इस्तेमाल करने के लिए धर्म से मान्यता प्राप्त तरीका बन गया और गरीबों की औरतों को अपने कब्जे में करने का तरीका भी। साथ में यह समाज में पुरुषवर्चस्वकारी सोच का माध्यम भी बना। किसी भी और धर्म के पुजारियों की तरह, इस्लाम धर्म के मुल्ले भी अमीरपरस्त तथा पुरुषवर्चस्ववादी होने के कारण अभी भी इस धार्मिक सिद्धान्त को बनाए हुए हैं जिसका फ़ायदा संघी फ़ासीवादी गिरोह मुस्लिम समुदाय के खिलाफ़ नफ़रत फैलाने के लिए करते हैं। यह एक और उदाहरण है जिससे यह पता चलता है कि किस तरह सभी धर्मों के चौधरी आम लोगों को लड़ाने के लिए एक-दूसरे को बहाना देते हैं।

दूसरा संघी-मार्का “तर्क” यह है कि भारत में मुसलमानों की आबादी हिन्दुओं के मुकाबले बहुत ज़्यादा तेजी से बढ़ रही है, जिसके कारण जल्दी ही मुसलमानों की संख्या हिन्दुओं से बढ़ जायेगी। संघी जनसंख्या “वैज्ञानिक” मुसलमानों की आबादी के ज़्यादा तेजी से बढ़ने के पीछे उनका मुस्लिम होना बताते हैं। लेकिन इसमें विज्ञान और इतिहास की समझ का रत्तीभर अंश भी नहीं है। संघ के लोग इस तथ्य को अपनी दलील बनाते हैं कि 1947 में भारत की कुल जनसंख्या में मुसलमानों का प्रतिशत 10% था जो अब 14% हो गया है। संघी प्रचार-मशीनरी पूरे मामले के एक छोटे से अंश को पेश करके लोगों की आँखों में धूल झोंकना चाहती है लेकिन पूरा सच इनको नंगा कर देता है। सबसे पहले यह देखें कि मानवता के इतिहास में जनसंख्या कब-कब बढ़ी है? जब भी मानवता ने अपनी उत्पादन की शक्तियों में गुणात्मक विकास किया है, तब-तब जनसंख्या में इकदम से वृद्धि हुई है। प्राचीन समय में, जब आदमी ने खेती करना सीख लिया और वह एक जगह टिक कर रहने लगा तो जनसंख्या में एकदम वृद्धि हुई। इसी तरह अगर हम निकट अतीत की बात करें, तो जब मानवता ने पूँजीवादी दौर में कदम रखा तथा औद्योगिक क्रान्ति के चलते उत्पादन की शक्तियों में अभूतपूर्व विकास हुआ, तब यूरोप की आबादी में तीव्र बढ़ोतरी हुई। उदाहरण के लिए, 1700-1900 के बीच ब्रिटेन की आबादी चार गुणा से भी ज़्यादा बढ़ गयी थी और बिल्कुल यही औद्योगिक क्रान्ति का समय था। इसके बाद जैसे समाज आर्थिक तौर पर पहले से समृद्ध हुआ, शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाओं का विकास हुआ, महामारियों एवं अकालों का ख़तरा मिट गया, आदमी का जीवन अधिक निश्चित हो गया और समाज का सांस्कृतिक स्तर ऊपर उठा तो जनसंख्या में बढ़ोतरी होनी रुक गयी। आजकल यूरोप की आबादी स्थिर है और कुछ देशों में तो आबादी कम हो रही है। यूरोप में पहले भी ईसाई धर्म मुख्य था और आज भी है, लेकिन जनसंख्या पहले तेज़ी से बढ़ी और फिर धीरे-धीरे स्थिर हो गयी। भारत में कई प्रान्तों जैसे पंजाब, तमिलनाडु, केरल, जम्मू-कश्मीर आदि में भी जनसंख्या स्थिर हो चुकी है जहाँ पहले तेजी से जनसंख्या बढ़ी थी, मगर इन प्रान्तों में मुख्य धर्म आज भी वही हैं जो पहले थे। खैर, ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है। यह पूरी तरह साफ है कि जनसंख्या के बढ़ने का धर्म से कोई लेना-देना नहीं है। जनसंख्या में बढ़ोतरी तथा स्थिरता या कम होना मुख्य रूप से किसी समाज के आर्थिक विकास पर निर्भर करता है।

कुछ और आंकड़े देखते हैं। जम्मू-कश्मीर में मुख्य धर्म इस्लाम हैं, लेकिन यहाँ जनसंख्या अब लगभग स्थिर है। केरल में मुसलमानों की जनसंख्या दूसरे लोगों की जनसंख्या की तरह ही स्थिर है। वहीं अगर हम बिहार और उत्तर प्रदेश की तरफ देखें, तो वहाँ जनसंख्या अभी भी तेज़ी से बढ़ रही है, हालांकि बढ़ोतरी की दर में कमी आयी है। पूरे देश में जनसंख्या बढ़ोतरी में कमी की दर देखें, तो हिन्दुओं के मुकाबले मुसलमानों में यह दर ज़्यादा है। बच्चा पैदा करने योग्य हर औरत अपने जीवन में औसतन कितने बच्चों को जन्म देगी, इसको कुल प्रजनन दर (टी.एफ.आर.) कहा जाता है। राष्ट्रीय परिवार एवं स्वास्थ्य सर्वेक्षण की रिपोर्ट के अनुसार 1993-94 से 1998-99 के बीच, मुसलमानों में कुल प्रजनन दर रेट 4.41 से घटकर 3.59 हो गयी, मतलब 0.82 की कमी, जबकि इसी समय में हिन्दुओं में यही दर 3.2 से घटकर 2.78 हो गयी, मतलब 0.52 की कमी। 2001 की जनगणना के अनुसार, कुल प्रजनन दर मुसलमानों में 3.06 (देहात में 3.52, शहर में 2.29) है, जबकि हिन्दुओं में 2.47 (देहात में 2.77, शहर में 1.72) है। यह एक और दिलचस्प बात है कि शहरों के मुसलमानों में कुल प्रजनन दर (टी.एफ.आर.) गाँव के हिन्दुओं से कम है! इसका कारण यही है कि शहरों में देहातों के मुकाबले आर्थिक विकास उच्चतर होता है, शिक्षा तथा स्वास्थ्य सुविधा बेहतर होती है, गर्भनिरोधक तरीकों की उपलब्धता तथा जानकारी अधिक होती है और साँस्कृतिक स्तर ऊँचा होता है। यही बात अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी लागू होती है। इंडोनेशिया, ईरान, बांग्लादेश तथा पाकिस्तान सभी मुस्लिम देश हैं लेकिन इंडोनेशिया में कुल प्रजनन दर 2001 से पहले ही 2.5 से नीचे आ गयी थी और ईरान में यह दर अब 1.8 है, जबकि बांग्लादेश तथा पाकिस्तान में यह दर अभी भी 3 के आसपास है। स्पष्ट है कि जनसंख्या बढ़ने में धर्म की कोई भूमिका नहीं है, लेकिन जो काम भारत में संघ करता है, वही काम अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ईसाई कट्टरपन्थी तथा साम्राज्यवादी मीडिया करता है।

अक्सर लोगों में यह भ्रम रहता है कि जनसंख्या सिर्फ ज़्यादा बच्चे पैदा होने से बढ़ती है। यह ऊपरी और सतही बात है, असल में ऐसा नहीं है। अगर जन्म तथा मृत्यु दर एक जैसी हो तो जनसंख्या स्थिर रहती है। अगर, मृत्यु दर जन्म दर के मुकाबले ज़्यादा तेजी से कम हो जाये, तो जनसंख्या तेजी से बढ़ती है। भारत में भी जनसंख्या बढ़ने के पीछे यही कारण है। जन्म दर में काफ़ी कमी हो जाने के बाद भी भारत में जनसंख्या बढ़ रही है (वैसे यह बढ़ोत्तरी भी काफी घट गयी है) क्योंकि मृत्यु दर, खास तौर पर पाँच तथा एक साल से कम उम्र में बच्चों की मृत्यु दर में कमी आयी है। भारत में मुसलमानों में जन्म दर चाहे हिन्दुओं के मुकाबले अभी भी कुछ ज़्यादा है, लेकिन मुसलमानों की जनसंख्या हिन्दुओं से ज़्यादा तेजी (वैसे यह “ज़्यादा तेजी” बहुत ज़्यादा नहीं है जैसा कि संघ के “वैज्ञानिकों” को लगता है) से बढ़ने के पीछे यही एक कारण नहीं है। भारत में मुसलमानों में एक साल से कम उम्र के बच्चों की मृत्यु दर 59 है (राष्ट्रीय परिवार एवं स्वास्थ्य सर्वेक्षण-2, 1998-99), जबकि हिन्दुओं में यही दर 77 है। इसी तरह, पांच साल से कम उम्र में बच्चों की मृत्यु दर मुसलमानों में 83 (राष्ट्रीय परिवार एवं स्वास्थ्य सर्वेक्षण, 1998-99) है जबकि हिन्दुओं में यही दर 107 है। मुसलमानों में बच्चों की मृत्यु दर कम होने के पीछे संभवत: मुसलमानों में माँसाहारी भोजन का प्रचलन होना है। मुसलमानों में कुल मृत्यु दर भी कम है, हिन्दुओं में यह दर 8.1 (1991-2001) थी, जबकि इसी समय मुसलमानों में यह दर 7.1 थी। एक और बात, मुसलमानों में लिंग अनुपात (प्रति एक हजार आदमियों की तुलना में औरतों की संख्या) हिन्दुओं से बेहतर है। इसका कारण हिन्दुओं में लड़कियों को जन्म से पहले ही या जन्म के तुरंत बाद मारने की परम्परा भी है। अब इन बातों में कि मुस्लिम लोगों के बच्चे कम मरते हैं, उनमें लडकियों को गर्भ में ही या जन्मते ही मार देने की घटनाएँ कम हैं, उनका भोजन अधिक पौष्टिक है, किसी को मुसलमानों का कसूर दिखता है तो वह सिर्फ मूर्ख हो सकता है या फिर संघ का सदस्य। जनसंख्या में मनुष्यों के मरने की दर कम होने से बुजुर्ग लोगों की संख्या भी बढ़ने लगती है, यह भी जनसंख्या बढ़ोतरी का एक कारण होता है। अब क्योंकि मुसलमानों में मृत्यु दर कम है, इसलिए उनमें बुजुर्ग आबादी भी ज़्यादा ही होगी।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तथा इससे जुड़े अन्य संगठन, और साथ ही बहुत सारे अन्य हिन्दूवादी संगठन जैसे शिवसेना आदि अक्सर यह प्रचार करते हैं कि मुस्लिम लोग जानबूझ कर बच्चे पैदा करना नहीं रोकते। इस बात में भी कितनी सच्चाई है, आइये देखते हैं। भारत में मुस्लिम लोगों में गर्भनिरोध का इस्तेमाल करने वालों का प्रतिशत हिन्दुओं के मुकाबले फिलहाल कुछ कम है, लेकिन सिर्फ 2% भारतीय ऐसे हैं जो किसी धर्म में आस्था होने के चलते गर्भनिरोधक इस्तेमाल नहीं करते (राष्ट्रीय परिवार एवं स्वास्थ्य सर्वेक्षण - 2), और इसमें भी सभी सिर्फ मुस्लिम नहीं बल्कि अन्य धर्मों को मानने वाले भी हैं। मुस्लिम औरतों में ऐसी औरतों की गिनती 22% है जो गर्भनिरोधक इस्तेमाल करना चाहती हैं, लेकिन उनको इनके बारे में पूरी जानकारी नहीं है या फिर उनको उपलब्ध नहीं है। हिन्दुओं में ऐसी औरतों का अनुपात 15% है। मुसलमानों में जो विवाहित जोड़े आरजी गर्भनिरोधक तरीके इस्तेमाल कर रहे हैं, उनमें से लगभग आधे प्राइवेट दुकानों से खरीद कर और आधे सरकारी सप्लाई से लेकर इस्तेमाल कर रहे हैं, जबकि हिन्दुओं में 35% ही जोड़े ऐसे हैं जो प्राइवेट दुकानों से आरजी गर्भनिरोधक खरीदते हैं (इण्टरनेशनल इंस्टीट्यूट फ़ॉर पॉपुलेशन साइंसेज़ एंड मैक्रो इण्टरनेशनल 2000:159)। गर्भनिरोध के स्थायी तरीके जैसे नसबंदी आदि के मामले में भी ऐसा ही है। इसका साफ़ मतलब है कि मुसलमानों में परिवार नियोजन अपनाने के लिए कोई भी धार्मिक पूर्वग्रह नहीं है, उल्टा मुस्लिम विवाहित जोड़े इसके लिए तैयार हैं लेकिन उनतक सरकारी स्वास्थ्य प्रोग्रामों की पहुंच कम है। दूसरा, मुसलमानों में साक्षरता कम है और पिछड़ापन भी ज़्यादा है। नतीजतन, वे जानकारी हासिल करने में पिछड़ जाते हैं। राष्ट्रीय परिवार एवं स्वास्थ्य सर्वेक्षण 1 और 2 के अनुसार वर्ष 1992-93 से 1998-99 के बीच गर्भनिरोधक इस्तेमाल करने वाली औरतों की संख्या मुसलमानों में 9.6% से बढ़ी, जबकि हिन्दुओं में इस बढ़ोतरी की दर 7.6% रही।

कुल-मिलाकर, यही है संघियों के जनसंख्या “विज्ञान” की असलियत, जिसको आधार बनाकर इन गुण्डा गिरोहों ने “लव-जिहाद” की फ़िल्मी कहानी गढ़ रखी है और देश के आम लोगों में एक-दूसरे के ख़िलाफ़ नफ़रत भरने के लिए इस्तेमाल कर रहे हैं। फ़ासीवादियों से और उम्मीद भी क्या हो सकती है सिवाय झूठ, झूठ और झूठ के!

– नवगीत

असली चुनाव
इस या उस
पूंजीवादी चुनावी पार्टियों
के बीच नहीं
बल्कि
इंकलाबी राजनीति
और पूंजीवादी राजनीति
के बीच है।
चुन लो
चुनावी मृगमरीचिका में
जीना है
या
इंकलाब की तैयारी की
कठिन राह पर चलना है?

भूल सुधार

मज़दूर बिगुल के अक्टूबर अंक में प्रकाशित लेख ‘आम आदमी पार्टी के घोषणापत्र की आलोचना’ की लेखक शिवानी हैं और यह लेख ‘मुक्तिकामी छात्रों-नौजवानों का आह्वान’ पत्रिका से साभार लिया गया था।

कैसा है यह लोकतंत्र और यह संविधान किसकी सेवा करता है (चौबीसवीं क़िस्त)

● आनन्द सिंह

इस धारावाहिक लेख की चार क़िस्तें 'मज़दूर बिगुल' के पूर्ववर्ती 'नयी समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल' में प्रकाशित हुई थी। इसकी पहली बारह क़िस्तों के लेखक आलोक रंजन हैं। – सम्पादक

उपसंहार

भारतीय संविधान और भारतीय लोकतन्त्र के चरित्र को बयान करने वाले लेखों की इस श्रृंखला में हमने देखा कि भारतीय संविधान के बनने की प्रक्रिया और इसको पारित करने का तरीका दोनों ही गैर-जनवादी थे। हमने यह भी देखा कि संविधान में लफ्फ़ाजियाँ तो बहुत हैं, परन्तु यह आम जनता के बेहद बुनियादी जनवादी अधिकारों की भी कोई गारण्टी नहीं देता। इस संविधान में मौजूद प्रावधान निजी सम्पत्ति की इंच-इंच तक हिफ़ाजत करते हैं। अत: इन तथ्यों की रोशनी में यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान एक बुर्जुआ संविधान है जो एक बुर्जुआ जनवादी राज्य की आधारशिला रखता है और इस प्रकार पूँजीपति वर्ग के हितों का पोषण करता है। तमाम बुर्जुआ बुद्धिजीवी और संशोधनवादी इसे बिना कोई विश्लेषण का उपयोग किये जनवादी संविधान और लोकतान्त्रिक व्यवस्था कह कर महिमामण्डित करते हैं। ऐसे ही एक संशोधनवादी और सर्वहारा क्रान्ति के गद्दार काउत्स्की को करारा जवाब देते हुए लेनिन ने कहा था कि ''विशुद्ध जनवाद एक ऐसा उदारतावादी झूठ से भरा फ़िकरा है जो मज़दूरों को बेवकूफ बनाना चाहता है। इतिहास उस बुर्जुआ जनवाद से परिचित है जो सामन्तवाद का स्थान लेता है और उस सर्वहारा जनवाद से परिचित है जो बुर्जुआ जनवाद का स्थान लेता है।''

लेनिन आगे कहते हैं, ''यद्यपि बुर्जुआ जनवाद मध्ययुगीनता की तुलना में महान ऐतिहासिक प्रगति है, पर वह हमेशा सीमित, क्षत-विक्षत, झूठ-मक्कारी भरा होता है, वह धनवानों के लिए स्वर्ग और शोषितों के लिए, ग़रीबों के लिए एक जाल और एक धोखा होता है, और पूँजीवादी व्यवस्था में वह इसके अतिरिक्त कुछ हो भी नहीं सकता।'' भारतीय संविधान और भारतीय लोकतन्त्र की जो विवेचना इस श्रृंखला में प्रस्तुत की गयी है उसके आधार पर यह बेहिचक कहा जा सकता है कि लेनिन की यह प्रस्थापना भारत के सन्दर्भ में भी हूबहू लागू होती है। उपनिवेशवाद की गर्भ से जन्मे और पुनर्जागरण एवं प्रबोधन की वैचारिक सम्पदा से रहित भारत के विकृत और कमज़ोर बुर्जुआ वर्ग से इससे ज़्यादा उम्मीद की भी नहीं जा सकती है।

पूँजीवादी जनवाद के पूरे इतिहास पर एक सरसरी निगाह दौड़ाने से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के प्रबोधनकालीन आदर्श तो उन देशों में भी नहीं लागू हुए जहाँ पर सत्ता की बागडोर क्रान्तिकारी बुर्जुआ वर्ग के हाथों में आयी। ब्रिटेन में सत्रहवीं सदी के मध्य की क्रामवेल की क्रान्ति ने हालाँकि सामन्ती वर्ग की सत्ता को समाप्त किया, परन्तु इसके बावजूद संसद में सम्पत्तिवानों का ही कब्ज़ा बना रहा क्योंकि सत्ता पर अब बुर्जुआ वर्ग काबिज़ हो चुका था। ब्रिटिश गृह युद्ध में हिस्सा लेने वाले कई समूहों में से 'लेवेलर्स' और 'डिगर्स' जैसे सापेक्षत: रैडिकल समूह जो आम मेहनतकशों के हितों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, कुचल दिये गये। हालाँकि राजशाही की राजनीतिक ताकत छीन ली गई, परन्तु उसका ख़ात्मा नहीं किया गया और आज तक यह संस्था ब्रिटिश पूँजीवाद के दामन पर एक काले धब्बे के समान मौजूद है। क्रॉमवेल की क्रान्ति के कई दशकों बाद तक भी मतदान और चुनाव लड़ने का आधार सम्पत्ति बनी रही।

यहाँ तक कि क्लासिकीय बुर्जुआ क्रान्तियाँ यानि अमेरिकी क्रान्ति और फ्रांसीसी क्रान्ति भी ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील होते हुए भी अन्तत: बुजुआ वर्ग के अधिनायकत्व में तब्दील हो गयीं। स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के आदर्श महज़ खोखले शब्द बनकर रह गये और उनका अमली रूप बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी पर मुट्ठी भर पूँजीपतियों की तानाशाही बनकर रह गयी। 4 जुलाई 1776 को जैफ़रसन द्वारा तैयार किये गये 'स्वतन्त्रता के अधिकार की घोषणा' निश्चित रूप से इतिहास में आगे बढ़ा हुआ एक प्रगतिशील कदम था। परन्तु दास स्वामियों द्वारा इस घोषणा का तत्क्षण विरोध किया गया और इसमें से दास प्रथा के उन्मूलन के प्रावधान को निकलवा दिया गया। अमेरिकी क्रान्ति के बाद भी कई दशकों तक दासों के विद्रोहों को बर्बरता से कुचलने की प्रक्रिया बदस्तूर ज़ारी रही। 1786 में डेनियल शेज़ के नेतृत्व में ग़रीबों और कर्ज़दारों की रिहाई के लिए उठे प्रसिद्ध विद्रोह को निर्ममता से कुचल दिया गया। 1787 के प्रसिद्ध फिलाडेल्फिया कनवेंशन, जिसमें अमेरिकी संविधान की नींव रखी गयी थी, में भी दास प्रथा के उन्मूलन पर आम सहमति नहीं बन सकी। वास्तव में इस कन्वेंशन में भाग लेने वाले लोग आम मेहनतकश जनता के नहीं बल्कि धनिकों, दास स्वामियों और पूँजीपतियों के प्रतिनिधि थे। इस कन्वेंशन में भाग लेने वाले 55 सदस्यों में से 25 दासस्वामी थे। दासों की संख्या पूरे संयुक्त राज्य अमेरिका की आबादी का पाँचवाँ हिस्सा थी। न्यू इंग्लैण्ड को छोड़कर सभी राज्यों में दास प्रथा प्रचलन में थी। दक्षिणी राज्यों में तो हर तीन में से एक परिवार में दास रखे जाते थे। दक्षिणी राज्यों की समूची कृषि अर्थव्यवस्था दास श्रम पर टिकी थी। इस कन्वेशन के चरित्र का पता इसी बात से चल जाता है कि इसमें बहसतलब मुद्दों में एक मुद्दा यह भी था कि राज्यों का प्रतिनिधित्व तय करने की प्रक्रिया में दासों को जनसंख्या में गिना जाय अथवा उन्हें सम्पत्ति के रूप में देखा जाये। दक्षिणी राज्य अपना प्रतिनिधित्व बढ़ाने के लिए दासों को जनसंख्या में गिनने के लिए दबाव बना रहे थे, जबकि उत्तरी राज्य केवल स्वतन्त्र व्यक्तियों को जनसंख्या में गिनना चाहते थे और दासों को सम्पत्ति के रूप में गिनना चाहते थे। अन्तत: कन्वेंशन में इस मुद्दे पर सहमति बनी कि दासों की कुल संख्या का 3/5 वाँ हिस्सा ही जनसंख्या में गिना जायेगा।

1791 में अमेरिकी संविधान में 10 संशोधन पारित किये गये जिन्हें 'बिल ऑफ राइट्स' के नाम से जाना जाता है। इसमें धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार, सभा करने का अधिकार, प्रेस का अधिकार, अस्त्र रखने का अधिकार शामिल हैं। परन्तु स्वतन्त्रता की तमाम घोषणाओं के बावजूद सच्चाई यह थी कि दास प्रथा अभी भी कई राज्यों में प्रचलित थी और अश्वेतों की स्थिति में कोई विचारणीय सुधार नहीं हुआ था। हलाँकि 1804 तक उत्तरी राज्यों में दास प्रथा के उन्मूलन की घोषणा की जा चुकी थी, परन्तु इन राज्यों में भी जहाजरानी, बैंकिंग और मैन्युफैक्चरिंग के विस्तार की वजह से दास प्रथा के साथ उनके मजबूत आर्थिक सम्बन्ध बरकरार रहे। औद्योगिक क्रान्ति के बाद कॉटन की बढ़ती माँग ने दक्षिणी राज्यों में दास-प्रथा को और भी विस्तार देने के लिए प्रेरणास्रोत का काम किया। 1861 से 1865 तक अमेरिका में चले गृहयुद्ध के बाद हालाँकि आधिकारिक रूप से सभी राज्यों में दास-प्रथा का उन्मूलन करने के दावे किये गये, परन्तु इसके बावजूद समूची उन्नीसवीं शताब्दी में अश्वेतों की दयनीय स्थिति बरकरार रही। इसके अतिरिक्त श्वेतों में भी ग़रीब मेहनतकश जनता की स्थिति पूँजीवाद के दौर में बद से बदतर होती गयी। दुनिया को स्वतन्त्रता की नसीहत देने वाले इस देश में भी मज़दूरों के आन्दोलनों को निर्ममतापूर्वक कुचला गया। मई 1886 में शिकागो के प्रसिद्ध मज़दूर आन्दोलन का बर्बर दमन इस बात की बानगी भर है।

दुनिया का सबसे पुराना लोकतन्त्र कहा जाने वाले इस देश के विस्तारवादी मंसूबे 19 वीं शताब्दी में दिखने लगे थे जब मुनरो डॉक्ट्रिन के तहत लैटिन अमेरिकी देशों को अमेरिकी उपनिवेश में तब्दील करने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी। बीसवीं शताब्दी में और खासकर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हिरोशिमा-नागासाकी पर परमाणु बम गिराने के बाद अमेरिका दुनिया के साम्राज्यवादी देशों का सरगना बन चुका था। बीसवीं शताब्दी में कोरिया, वियतनाम, निकारागुआ, चिली आदि में स्वतन्त्रता के नाम पर अराजकता फैलाने के बाद 21 वीं सदी में ये साम्राज्यवादी प्रयोग अफ़गानिस्तान इराक़, पाकिस्तान, लीबिया, सीरिया आदि पर किये जा रहे हैं। यही नहीं अपने अत्याधुनिक इलेक्ट्रानिक सर्विलांस की टेक्नालोजी की मदद से अब दुनिया भर के लोगों की निजी सूचनायें अब माउस का एक बटन दबाते ही अमेरिका के पास पहुँच रही हैं। तो ये रही व्यक्तित्व की आज़ादी को अनुलंघनीय मानने की कसमें खाने वाली बुर्जुआ अमेरिकी क्रान्ति की परिणति।

अब आइये देखते हैं कि फ्रांसीसी क्रान्ति की परिणति क्या हुई। जहाँ तक सामन्तवाद को निर्णायक चोट पहुँचाने का प्रश्न है तो निश्चित रूप से इस क्रान्ति की इतिहास में प्रगतिशील भूमिका थी। यही वजह थी कि मार्क्स ने इसे भव्यतम बुर्जुआ क्रान्ति की संज्ञा दी थी। 1789 की जुलाई में बास्तील किले की जेल के ध्वंस के बाद 26 अगस्त को राष्ट्रीय संविधान सभा ने पुरुष और नागरिक अधिकार घोषणापत्र के नाम से एक महत्वपूर्ण दस्तावेज़ पारित किया जो ऊपरी तौर से देखने पर प्रबोधनकालीन आदर्शों से प्रेरित दिखायी पड़ता है। इस घोषणा में कुछ अधिकारों को नैसर्गिक, अनुलंघनीय और पवित्र बताया गया था, मसलन लोगों के जन्मना समान होने का अधिकार, अभिव्यक्ति की आज़ादी, प्रेस की आज़ादी और सभा करने की आज़ादी, उत्पीड़न के सभी रूपों का ख़ात्मा, मनमाने ढंग से गिरफ़्तारी की परंपरा का ख़ात्मा। निश्चित रूप से ये अधिकार यह दिखाते हैं कि फ्रांसीसी क्रान्ति मानव इतिहास में एक आगे बढ़ा हुआ क़दम थी। लेकिन ग़ौर करने की बात यह है कि इस घोषणा में मौजूद तमाम प्रावधानों में से एक यह भी था कि निजी सम्पत्ति का अधिकार पवित्र और अनुलंघनीय था। जहाँ तक सामन्तों द्वारा आम जन की ज़मीन हड़पने की बात थी, वहाँ तो इस अधिकार की एक प्रगतिशील भूमिका थी, परन्तु इसका एक प्रतिगामी पहलू यह था कि इसने हर प्रकार के पूँजीवादी लुटेरों और अनुत्पादक परजीवी जमातों और की निजी सम्पत्ति की अधिकार भी सुरक्षित कर दिया।

फ्रांस की नेशनल असेंबली ने 1791 में संविधान का प्रारूप पूरा किया। यह संविधान सभी नागरिकों को मतदान का अधिकार नहीं देता था। 25 वर्ष से अधिक उम्र वाले केवल ऐसे पुरुषों को ही मतदान देने का अधिकार प्राप्त था जो कम-से-कम तीन दिन की मज़दूरी के बराबर कर चुकाते थे। असेंबली का सदस्य होने के लिए लोगों को करदाताओं की उच्चतम श्रेणी में होना ज़रूरी था। 1792 में जैकोबिनों के सत्ता में आने के बाद 21 वर्ष से अधिक उम्र वाले सभी पुरुषों – चाहे उनके पास सम्पत्ति हो या नहीं – को मतदान का अधिकार दिया गया। 21 सितंबर 1792 को नवनिर्वाचित असेंबली ने राजतंत्र का अन्त कर दिया और फ्रांस को एक गणतन्त्र घोषित किया। रोबेस्पयेर के नेतृत्व वाली जैकोबिन पार्टी तृतीय एस्टेट के आम मेहनकश आबादी – जूता बनाने वाले, पेस्ट्री बनाने वाले, घड़ीसाज, छपाई करने वाले और नौकर व दिहाड़ी मज़दूरों – के हितों का प्रतिनिधित्व करती थी। इस पार्टी के नेतृत्व में 1793 में जो संविधान बनाया गया उसे अब तक के बुर्जुआ संविधानों में से सर्वाधिक जनवादी कहा जाता है। फ्रांसीसी उपनिवेशों में दास-प्रथा का उन्मूलन करने का रैडिकल फैसला भी जैकोबिनों ने ही लिया (जिसे बाद में नेपोलियन ने फिर से शुरू कर दिया)। परन्तु यह पार्टी बहुत दिनों तक सत्ता में न रह सकी क्योंकि इतना ज़्यादा जनवाद बुर्जुआ वर्ग के गले से नहीं उतर रहा था । 27 जुलाई 1794 को एक प्रतिक्रियावादी तख़्तापलट के द्वारा जैकोबिनों का शासन समाप्त कर दिया

(पेज 12 पर जारी)

साम्प्रदायिकता के खिलाफ़ गत्ते की तलवार भाँजते मौक़ापरस्त जोकरों का प्रहसन

(पेज 11 से आगे)

ही काम किया है। मज़दूर वर्ग की राजनीति के नाम पर मज़दूरों के ये गद्दार केवल पोलिंग बूथ का ही रास्ता दिखाते रहे हैं। ये नकली वामपंथी, जो हमेशा से पूँजीवादी व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा पंक्ति का काम करते रहे हैं, उनका ''समाजवाद'' आज गलित कुष्ठ रोग जितना घिनौना हो चुका है। आज ज़्यादा से ज़्यादा वे नवउदारवादी दैत्य से मानवीय मुखौटा पहनने का अनुरोध कर सकते हैं और ''कल्याणकारी राज्य'' के अमर्त्य सेन ब्राण्ड कुछ कीन्सियाई नुस्खे सुझा सकते हैं। हाँ, यह ज़रूर है कि बुर्जुआ जनवाद के खेल के सुचारू रूप से चलते रहने के लिए ये वाक़ई सबसे अधिक चिन्तित हैं, इनकी चिन्ता 'जेनुइन' है और इस चिन्ता में जिस-तिस बुर्जुआ पार्टी को सहयोगी बनाने के लिए भागदौड़ कर रहे हैं, क्योंकि बिचारे अधिकतम सम्भव यही कर सकते हैं कि भाजपा-विरोधी चुनावी मोर्चा बनायें। संसदीय राजनीति से और आर्थिक लड़ाइयों से इतर वर्ग संघर्ष की राजनीति को तो ज़माने पहले ये लोग तिलांजलि दे चुके हैं। अब तो उनकी चर्चा तक से इनके कलेजे काँप उठते हैं। फिर भाकपा-माकपा के नेता भाजपा के पूर्व सहयोगियों के साथ मिलकर साम्प्रदायिकता-विरोधी सम्मेलन में गत्ते की तलवारें भाँज रहे हैं और इनसे जुड़े बुद्धिजीवी और संस्कृतिकर्मी मोमबत्तियाँ जलाकर फासीवाद के विरोध में कबीर और सूफी संतों के क़लाम पढ़ और गा रहे हैं।

धार्मिक कट्टरपंथी फासीवाद के वर्तमान उभार का कारण नरेन्द्र मोदी नहीं है। नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में हिन्दुत्ववादी फासीवाद के एक मार्डन संस्करण के उभार के कारण मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था के असाध्य ढाँचागत संकट के वर्तमान दौर में देखे जाने चाहिए। इस पूँजीवादी संकट का एक क्रान्तिकारी समाधान हो सकता है – पूँजीवादी उत्पादन और विनिमय की तथा शासन की प्रणाली को ही बदल देना। इस समाधान की दिशा में यदि समाज आगे नहीं बढ़ेगा तो पूँजीवादी संकट का फासीवादी समाधान ही सामने आयेगा जिसका अर्थ होगा, जनवादी प्रतिरोध के हर सीमित स्कोप को भी समाप्त करके मेहनतकश जनता पर पूँजी की नग्न-निरंकुश तानाशाही स्थापित करना।

अतीत से सबक लेकर, भारतीय पूँजीपति वर्ग फासीवाद को नियंत्रित रखते हुए उसी हद तक इस्तेमाल करना चाहता है कि वह जन-प्रतिरोध को कुचल सके, जनता की वर्ग चेतना को कुन्द कर सके और निर्बाध रूप से मेहनतकश जनता से अधिशेष निचोड़ सके। पर स्थितियाँ उसके नियंत्रण में रहे, यह ज़रूरी नहीं। ढाँचे की गति हमेशा शासक वर्ग की इच्छा से नहीं तय होती। कुत्ता जंजीर छुड़ाकर स्वतंत्र भी हो सकता है। उग्र साम्प्रदायिक नारे और दंगे उभाड़ने की साजिशें पूरे समाज को ख़ून के दलदल में डुबो सकती हैं। केवल धार्मिक अल्पसंख्यक ही नहीं, समूची ग़रीब मेहतनक़श आबादी को भीषण रक्तपात का कहर झेलना पड़ सकता है। संघ परिवार जो फासीवादी लहर उभाड़ रहे है, वह मुस्लिम आबादी के बीच भी धार्मिक मूलतत्ववादी फासीवादी गुटों को आधार बनाने का अवसर दे रहा है। इस तरह दोनों एक-दूसरे की सहायता कर रहे हैं।

प्रश्न केवल चुनावी राजनीति का है ही नहीं। पूँजीवादी संकट पूरे समाज में (क्रान्तिकारी शक्तियों की प्रभावी उपस्थिति के अभाव में) फासीवादी प्रवृत्तियों और संस्कृति के लिए अनुकूल ज़मीन तैयार कर रहा है। संघ परिवार अपने तमाम अनुसंगी संगठनों के सहारे बहुत व्यवस्थित ढंग से इस ज़मीन पर अपनी फसलें बो रहा है। वह व्यापारियों और शहरी मध्यवर्ग में ही नहीं, आदिवासियों से लेकर शहरी मज़दूरों की बस्तियों तक में पैठकर काम कर रहा है। इसका जवाब एक ही हो सकता है। क्रान्तिकारी शक्तियाँ चाहे जितनी कमज़ोर हों, उन्हें बुनियादी वर्गों, विशेषकर मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार-उद्वेलन, लामबंदी और संगठन के काम को तेज़ करना होगा। जैसाकि भगतसिंह ने कहा था, जनता की वर्गीय चेतना को उन्नत और संगठित करके ही साम्प्रदायिकता का मुक़ाबला किया जा सकता है।

कैसा है यह लोकतंत्र और यह संविधान किसकी सेवा करता है

(पेज 11 से आगे)

गया और रोबेस्पयेर को गिलोटिन पर चढ़ा दिया गया। नये डायरेक्ट्री शासन ने जैकोबिनों द्वारा लिए गये रैडिकल फैसलों को उलट दिया। डिरेक्ट्री के भ्रष्ट शासन के बाद नेपोलियन ने 1804 में सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लिया और स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के झण्डे को धूल में फेंक दिया।

प्रबोधनकालीन फ्रांसीसी दार्शनिकों के आदर्शों को फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद सत्ता में आये नवोदित बुर्जुआ वर्ग द्वारा तिलांजलि देने के बारे में एंगल्स ने 'ड्यूरिंग मत-खण्डन' में सटीकता से बयान करते हुए लिखा है, ''... अठारहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी दार्शनिक, जो क्रान्ति के अग्रदूत थे, उस सबसे, जो विद्यमान है, एकमात्र निर्णयकर्ता के रूप में तर्कबुद्धि का आश्रय लेते थे। उन्होंने एक तर्कबुद्धिसंगत राज्य तथा तर्कबुद्धिसंगत समाज की स्थापना की माँग की, उस सबको, जो शाश्वत तर्कबुद्धिसंगत के विरुद्ध था, निर्ममतापूर्वक मिटा देने की माँग की। हमने यह भी देखा कि यह शाश्वत तर्कबुद्धि वस्तुतः औसत दर्ज़े के बर्गर की, जो बुर्जुआ वर्ग में अभी-अभी विकसित हो रहा था, आदर्शीकृत समझ के अलावा और कुछ भी नहीं थी। परन्तु जब फ्रांसीसी क्रान्ति ने इस तर्कबुद्धिसंगत समाज तथा इस तर्कबुद्धिसंगत राज्य को मूर्त रूप दिया, तो नयी संस्थायें पूर्ववर्ती संस्थाओं की तुलना में अपनी सारी तर्कबुद्धिसंगतता के बावजूद पूर्ण तर्कबुद्धिसंगत कदापि नहीं सिद्ध हुईं। तर्कबुद्धिसंगत राज्य पूरी तरह ढह गया। रूसो की सामाजिक संविदा ने आतंक के शासन के दौरान मूर्त रूप प्राप्त कर लिया, जिससे घबराकर अपनी राजनीतिक क्षमता में विश्वास खो बैठे बुर्जुआ वर्ग ने पहले डायरेक्टरेट की भ्रष्टता की शरण ली और फिर नेपोलियनी निरंकुशता की छत्र-छाया में पहुँच गया। जिस शाश्वत शान्ति का वचन दिया गया था, वह अन्तहीन कब्ज़ाकारी युद्धों में बदल गयी। तर्कबुद्धि पर आधारित समाज का हाल इससे बेहतर नहीं रहा। अमीर तथा ग़रीब के बीच अन्तरविरोध आम समृद्धि में विलय होने के बजाय शिल्पसंघों के तथा अन्य विशेषाधिकारों के, जिन्होंने इन अन्तरविरोधों पर मानो सेतुबन्ध का काम कर दिया था, हटाये जाने से तथा चर्च की दानशील संस्थाओं के ख़त्म किये जाने से और भी तीक्ष्ण हो गये। (सामन्ती बेड़ियों से ''सम्पत्ति की स्वतन्त्रता'' जो अब वस्तुतः सम्पन्न हो चुकी थी, छोटे बुर्जुआ तथा किसान के लिए, जिन्हें बड़ी पूँजी तथा बड़े भू-स्वामित्व की ओर से प्रचण्ड प्रतियोगिता ने कुचल दिया था, ठीक इन्हीं महाप्रभुओं को अपनी छोटी सम्पत्ति बेचने की स्वतन्त्रता सिद्ध हुई; यह ''स्वतन्त्रता'' इस प्रकार छोटे बुर्जुआ और किसान के लिए सम्पत्ति से स्वतन्त्रता में बदल गयी)। पूँजीवादी आधार पर उद्योग के तीव्र विकास ने मेहनतकश जनसाधारण की ग़रीबी और कष्टों को समाज के अस्तित्व की आवश्यक शर्त बना दिया। (नक़द भुगतान, कार्लाइल के शब्दों में अधिकाधिक मात्रा में इस समाज का एकमात्र सम्बन्ध-सूत्र बनता चला गया।) अपराधों की संख्या वर्ष प्रति वर्ष बढ़ती चली गयी। पहले सामन्ती दुराचार दिन-दहाड़े होता था; अब वह एकदम समाप्त तो नहीं हो गया था, पर कम से कम पृष्ठभूमि में ज़रूर चला गया था। उसके स्थान पर बुर्जुआ अनाचार, जो इसके पहले पर्दे के पीछे हुआ करता था, अब प्रचुर रूप में बढ़ने लगा था। व्यापार अधिकाधिक धोखाधड़ी बनता चला गया। क्रान्तिकारी आदर्श-सूत्र के ''बन्धुत्व'' ने होड़ के संघर्ष की ठगी तथा प्रतिस्पर्धा में मूर्त रूप प्राप्त किया। बल द्वारा उत्पीड़न का स्थान भ्रष्टाचार ने ले लिया। सामाजिक सत्ता का उत्तोलक तलवार के स्थान पर सोना बन गया। नववधुओं के साथ पहली रात सोने का अधिकार सामन्ती प्रभुओं से पूँजीवादी कारख़ानेदारों के पास पहुँच गया। वेश्यावृत्ति में इतनी अधिक वृद्धि हो गयी, जो पहले कभी सुनी तक नहीं गयी थी। स्वयं विवाह-प्रथा पहले की तरह अब भी वेश्यावृत्ति का क़ानूनी मान्यताप्राप्त रूप तथा उसकी सरकारी आड़ बनी हुई थी, और इसके अलावा व्यापक परस्त्रीगमन उसके अनुपूरक का काम कर रहा था। संक्षेप में, दार्शनिकों ने जो सुन्दर वचन दिये थे, उनकी तुलना में ''तर्कबुद्धि की विजय'' से उत्पन्न सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थायें घोर निराशाजनक व्यंग्यचित्र प्रतीत होती थीं।''

जब क्रान्तिकारी बुर्जुआ वर्ग द्वारा सम्पन्न बुर्जुआ क्रान्तियों के बाद अस्तित्व में आये समाज की ये दशा हुई तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं कि भारत जैसे उत्तर-औपनिवेशिक देशों में जो बुर्जुआ जनवाद अस्तित्व में आया वह निहायत ही अधूरा और विकृत है। भारत में तो बुर्जुआ वर्ग ने औपनिवेशिक सत्ता के ख़िलाफ़ जुझारू संघर्षों की बजाय समझौता-दबाव-समझौता की रणनीति से सत्ता हासिल की, परन्तु जिन उत्तर-औपनिवेशिक देशों में बुजुआ वर्ग क्रान्तिकारी संघर्षों के ज़रिये सत्तासीन हुआ वहाँ की जनता को भी पश्चिमी देशों जितने जनवादी अधिकार नहीं मिले। अगले अंक में हम देखेंगे किस प्रकार प्रबोधनकालीन आदर्शों को यदि किसी राज्य ने वास्तव में अमल किया तो वे रूसी क्रान्ति और चीनी क्रान्ति के बाद अस्तित्व में आयी समाजवादी सत्तायें थी जिन्होंने मानव सभ्यता के इतिहास में एक लम्बी छलाँग लगाते हुए यह सिद्ध किया कि एक समाजवादी समाज में ही स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के नारे को अमली जामा पहनाया जा सकता है।

(अगले अंक में जारी)

मारुति सुज़ुकी मज़दूर आन्दोलनः इस अफ़सोसनाक हालत का ज़िम्मेदार कौन है?

(पेज 1 से आगे)

2012 को एक बार दिल्ली में ऑटोमोबाइल मज़दूर सम्मेलन और जन्तर-मन्तर तक मार्च निकला भी और उसका काफ़ी असर भी हुआ, क्योंकि हरियाणा के मुख्यमन्त्री के बेटे ने अगले ही दिन यूनियन नेतृत्व को बातचीत के लिए बुलाया। लेकिन सीटू, एटक, एचएमएस के दबाव और ख़ास तौर पर "इंक़लाबी-क्रान्तिकारी" कॉमरेडों के कुत्साप्रचार, कानाफूसी, तोड़-फोड़ और अवसरवाद के चलते यूनियन नेतृत्व ने संघर्ष के स्थान को दिल्ली स्थानान्तरित करने का फैसला नहीं लिया। यह आन्दोलन में सबसे बड़ी भूल थी। लेकिन मज़दूरों के असन्तोष के दबाव के चलते अब यूनियन नेतृत्व कहीं एक जगह धरना और भूख हड़ताल कर बैठने का फैसला लेने के लिए मज़बूर था। अगर वह ऐसा नहीं करता तो आन्दोलन मार्च 2013 में ही बिखर गया होता। लेकिन धरने की जगह के तौर पर कैथल को चुना गया जो कि उद्योग मन्त्री रणदीप सुरजेवाला का निर्वाचन क्षेत्र और घर था। 'बिगुल मज़दूर दस्ता' की ओर से एक बार फिर यूनियन नेतृत्व से यह अपील की गयी कि वह अपने निर्णय पर पुनर्विचार करे और धरने के स्थान को दिल्ली निर्धारित करे क्योंकि 3-4 हज़ार मज़दूरों और उनके परिवार वालों को जुटाने की ताक़त के आधार पर हरियाणा में यह लड़ाई जीत पाना मुश्किल था और साथ ही इस बात की पूरी गुंजाइश थी कि आन्दोलन जैसे ही आक्रामक तेवर अख़्तियार करेगा वैसे ही हरियाणा सरकार उस पर बर्बर दमन करेगी। सवाल दमन से घबराने का नहीं बल्कि सही नीति चुनने का था। दमन दिल्ली में भी हो सकता था लेकिन तब यह एक राष्ट्रीय मुद्दा बन जाता और शायद अब तक हमारी कुछ माँगों की सुनवाई हो चुकी होती। लेकिन "इंक़लाबी-क्रान्तिकारी" कॉमरेडों और ग़द्दार ट्रेड यूनियनों के अपवित्र गठबन्धन ने मारुति सुज़ुकी वर्कर्स यूनियन को यह कदम उठाने ही नहीं दिया और जो लोग संघर्ष को दिल्ली ले जाने की बात कर रहे थे, उनके ख़िलाफ़ हर स्तर पर जाकर कुत्साप्रचार किया । नतीजतन, नेतृत्व ने कैथल में ही धरना करने का निर्णय लिया। 19 मई को इसका नतीजा सामने आ गया। मज़दूरों और उनके परिवार वालों पर हरियाणा सरकार ने जमकर लाठी चार्ज किया और इसके बाद आन्दोलन जिस क़दर बिखरा, तो वह आज तक फिर से खड़ा नहीं हो पाया है। इस बीच यूनियन ने कुलकों और धनी किसानों की नुमाइन्दगी करने वाली खाप पंचायतों से भी समर्थन लिया। लेकिन इस दमन के साथ ही खाप पंचायतों का समर्थन भाप बनकर उड़ गया और यूनियन नेतृत्व एक बार फिर से ग़द्दार केन्द्रीय ट्रेड यूनियन फेडरेशनों की शरण में पहुँच गया। और अवसरवादी संघाधिपत्यवादी "इंक़लाबी-क्रान्तिकारी" कॉमरेड भी "मज़दूर वर्ग की स्वत:स्फूर्तता" का जश्न मनाते हुए पीछे-पीछे इन्हीं केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों की शरण में आ पहुँचे!

स्पष्ट है कि अवसरवादी "इंक़लाबी-क्रान्तिकारी" कॉमरेडों ने अपने संकीर्ण सांगठनिक हितों के चलते आन्दोलन को एक सही दिशा देने के हर प्रयास को सोचे-समझे तरीके से नाकाम किया। अब जब कि आन्दोलन पूर्णत: बिखर चुका है तो ये अवसरवादी क्षति-पूर्ति के तौर पर यूनियन नेतृत्व को दिल्ली से लेकर कोलकाता तक के विश्वविद्यालयों में व्याख्यान यात्राएँ करा रहे हैं! ज़ाहिर है जे.एन.यू. से लेकर कोलकाता तक यूनियन के नेतृत्व के लोगों की ऐसी व्याख्यान यात्राओं से कुछ हासिल नहीं होने वाला है। बस यही होगा कि इन विश्वविद्यालयों में निष्क्रिय उग्रपरिवर्तनवादी (यानी, जो बातों में गर्म और कार्रवाई में नर्म होते हैं!) समुदाय के 20-25 लोग इकट्ठा होकर इन व्याख्यानों को सुन लेंगे, क्योंकि उनके बीच शुरू से ऐसा प्रचार किया गया है कि मारुति सुज़ुकी मज़दूर आन्दोलन भारत के मज़दूर आन्दोलन के बीच एक मिसाल है और उसकी अगुवाई करेगा! सच है कि यह मिसाल है–लेकिन एक त्रासदी की मिसाल! यह त्रासदी दिखलाती है कि किसी भी मज़दूर आन्दोलन में अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद, अर्थवाद और अवसरवाद किस तरह से क़ीमत वसूल करता है। अगर आज मारुति सुज़ुकी के आन्दोलनरत रहे मज़दूर दिशाहीनता और निराशा के शिकार हैं तो इसके लिए मुख्य तौर पर यही "इंक़लाबी-क्रान्तिकारी कॉमरेड" ज़िम्मेदार हैं। मारुति मज़दूर आन्दोलन की सबसे बड़ी नकारात्मक सीख यही रही है कि मज़दूरों को अपने बीच से ऐसे अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों और अवसरवादियों का जल्द से जल्द सफ़ाया करना चाहिए, अन्यथा बहुत देर हो जाती है और जब तक हम असफलता के कारणों को समझ पाते हैं तब तक आन्दोलन गड्ढे में जा चुका होता है।

मारुति सुज़ुकी मज़दूर आन्दोलन को पुनर्गठित करने का नवीनतम प्रयास विफलः त्रासदी का नया और सम्भवतः अन्तिम अध्याय

मारुति सुज़ुकी वर्कर्स यूनियन ने करीब एक माह पहले सितम्बर में ही 27 अक्टूबर को कैथल में एक विशाल प्रदर्शन करने का निर्णय किया था। उस समय से ही इस प्रदर्शन की तैयारियाँ और प्रचार शुरू कर दिया गया था। इण्टरनेट से लेकर पर्चों और पोस्टरों के ज़रिये देश भर में इस प्रदर्शन में मज़दूरों, राजनीतिक कार्यकर्ताओं और संगठनों को न्यौता दिया जा रहा था। इसके लिए निश्चित तौर पर काफ़ी ताक़त झोंकी गयी थी। लेकिन अन्तिम मौक़े पर यूनियन नेतृत्व ने प्रदर्शन को रद्द करने का निर्णय किया। कहने के लिए एक कारण यह था कि प्रशासन ने कैथल में धारा 144 लागू कर दी थी। लेकिन मारुति सुज़ुकी मज़दूर पहले भी सविनय अवज्ञा करते हुए धारा 144 का उल्लंघन कर चुके हैं। इस बार ऐसा नहीं करने का निर्णय क्यों लिया गया? इसका प्रमुख कारण यह था कि यूनियन नेतृत्व 26 अक्टूबर की शाम तक यह जान चुका था कि मज़दूरों का जुटान होना मुश्किल है। अच्छी से अच्छी हालत में 60-70 से ज़्यादा लोग नहीं जुटने वाले थे। नतीजतन, यूनियन नेतृत्व ने अन्तिम समय पर यह निर्णय लिया कि नेतृत्व के लोग कैथल में गिरफ़्तारी देंगे। इसका प्रमुख कारण यह था कि अब आन्दोलन में हरियाणा के कुछ मज़दूरों को छोड़कर अन्य राज्यों के मज़दूर शिरकत नहीं कर रहे हैं। इसके अलावा, आस-पास के गाँवों से भी यूनियन नेतृत्व को जुटान करने की उम्मीद थी, जो कि कामयाब नहीं हो पाया। गाँवों से अब बिरले ही कोई आन्दोलन में भागीदारी करने आ रहा था। ज़्यादातर मज़दूर इस बात को समझ चुके थे कि कैथल में रणदीप सुरजेवाला की ओर से ज़्यादा से ज़्यादा कोई थोथा आश्वासन ही मिलने वाला है, इससे ज़्यादा कुछ भी नहीं। अधिकांश मज़दूर इस बात से अच्छी तरह वाक़िफ़ हैं कि अब हरियाणा सरकार उनकी सुनवाई नहीं करने वाली है। और ऐसे में कैथल में जुटने पर नयी गिरफ़्तारियों और दमन की ही गुंजाइश है। दमन और गिरफ़्तारियों का सामना भी आसानी से किया जा सकता है अगर उससे आन्दोलन के आगे बढ़ने की कोई उम्मीद हो। लेकिन आज आन्दोलन जिस हालत में है उसमें कैथल में नयी गिरफ्तारियाँ होने से केवल पहले से गिरफ़्तार मारुति मज़दूरों की संख्या में इज़ाफ़ा ही होगा, और कुछ नहीं। इसके अलावा, एक कारण यह भी है कि शुरू से यूनियन नेतृत्व द्वारा "इंक़लाबी-क्रान्तिकारी कॉमरेडों" के प्रभाव में एक ग़लत और पिटी हुई रणनीति लागू होने के कारण मज़दूर एक दरवाज़े से दूसरे दरवाज़े घूम-घूमकर बुरी तरह थक और ऊब चुके हैं। नतीजतन, 27 अक्टूबर को मात्र 60-70 लोग कैथल पहुँचे जो कि दोपहर तक अलग-अलग जगह घूमते रहे। इसका कारण यह था कि इन मज़दूरों को अभी पता भी नहीं था कि प्रदर्शन रद्द क्यों किया गया है? नतीजतन, एक भ्रम और अराजकता की स्थिति बनी हुई थी और मज़दूर दोपहर तक इधर-उधर भटक रहे थे। डी.सी. ऑफिस, जहाँ गिरफ़्तारी देने की योजना थी, पर दोपहर 1 बजे तक सन्नाटा था और वहाँ माकपा के पार्षद प्रेम के निलम्बन के विरोध में एक टेण्ट लगा हुआ था जिसमें दो लोग बैठे हुए थे।

कुछ मज़दूरों से बातचीत के ज़रिये हमारे संवाददाता को पता चलता कि नेतृत्व की योजना है कि वह डी.सी. कार्यालय या सुरजेवाला के निवास पर मुँह पर काली पट्टी बाँधकर ज्ञापन सौंपेंगे और गिरफ़्तारी देंगे। रेवाड़ी के कुछ मज़दूरों ने कहा कि दुबारा जुटान हो पाना अब मुश्किल है और ज़्यादातर मज़दूर अब अदालत में चल रहे मुकदमों के सहारे टिके हुए हैं, और आन्दोलन में सक्रिय रूप से भागीदारी नहीं कर रहे हैं।

देर शाम को डी.सी. ने 12 मज़दूरों के प्रतिनिधि मण्डल से ज्ञापन लिया और उद्योग मन्त्री रणदीप सुरजेवाला से मुलाक़ात करायी। इस मुलाक़ात के लिए प्रतिनिधि मण्डल कलायत गया जहाँ सुरजेवाला किसी समारोह के लिए गये थे। काफ़ी इन्तज़ार के बात चन्द मिनटों की मुलाकात में सुरजेवाला ने वही कहा जिसके बारे में मज़दूर पहले से ही जानते थे। सुरजेवाला ने कहा कि वह गुड़गाँव के श्रमायुक्त से बात करेंगे और मुख्यमन्त्री से समय लेने का प्रयास करेंगे। सुरजेवाला ने इसके बारे में कोई समयसीमा नहीं बतायी! यानी, यह प्रक्रिया अनन्तकाल तक भी चल सकती है! सुरजेवाला ऐसे आश्वासन पहले भी कई बार दे चुके हैं और एक सामान्य मज़दूर भी जानता है कि ऐसे आश्वासनों का क्या मूल्य है! ख़ैर, इस आश्वासन को सुनकर प्रतिनिधि मण्डल वापस आ गया। सबसे बड़ी बात यह है कि 27 अक्टूबर को प्रदर्शन का फैसला लेते हुए यूनियन नेतृत्व ने जो प्रमुख माँग तय की थी, उस पर सुरजेवाला से कोई बात ही नहीं हुई! यह माँग थी 18 व 19 मई को मज़दूरों पर दर्ज़ केस वापस लेने की माँग। लेकिन इस पर कोई चर्चा किये बग़ैर प्रतिनिधि मण्डल वापस आ गया। ज़ाहिर है, ग़लती प्रतिनिधि मण्डल की नहीं है। जितनी ताक़त होगी, उतनी ही बात होगी। ताक़त का अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि प्रशासन ने प्रतिनिधि मण्डल को गिरफ़्तार ही नहीं किया क्योंकि प्रशासन भी जानता है कि ऐसे प्रतिनिधि मण्डलों का क्या मूल्य है और गिरफ़्तार करने से वास्तव में उसका मूल्य बढ़ ही जायेगा। नतीजतन, प्रतिनिधि मण्डल का इरादा तो गिरफ़्तारी देने का था, लेकिन हरियाणा प्रशासन ने उन्हें गिरफ़्तार किया ही नहीं। कम्पनी मैनेजमेण्ट, हरियाणा सरकार और पुलिस प्रशासन भी इस बात को समझ रहा है कि आन्दोलन अपनी गति से स्वयं समाप्ति की ओर जा रहा है और ऐसे में किसी भी चीज़ को मुद्दा बनाने का मौका देने की कोई ज़रूरत नहीं है। कम्पनी मैनेजमेण्ट और सरकार ने अन्य मामलों में एकदम आक्रामक रुख़ अख़्तियार कर रखा है और वह एक तरह से मज़दूरों को रिहा न करके और उन पर से मुकदमे वापस न लेकर और साथ ही बर्ख़ास्त मज़दूरों की बहाली न करके उन्हें एक प्रकार से राजनीतिक सक्रियता और यूनियन बनाने के लिए दण्डित कर रहा है। और यूनियन नेतृत्व अपनी ही ग़लतियों के कारण अब इस हमले का मुक़ाबला करने की स्थिति में भी नहीं है।

हताशा की स्थिति यह है कि अब यूनियन नेतृत्व सबसे राय लेने और सलाह लेने का प्रयास कर रहा है, जब सारा आन्दोलन बिखर चुका है। यूनियन नेतृत्व के ही एक ज़िम्मेदार सदस्य ने 27 अक्टूबर की असफलता के बाद एक सोशल नेटवर्किंग साइट पर यह सन्देश डाला कि 'सुझाव दें कि अब एम.एस.डब्ल्यू.यू. को क्या करना चाहिए'। शायद, "इंक़लाबी-क्रान्तिकारी कॉमरेडों" के विशेष सुझावों का पिटारा अब ख़ाली हो चुका है! जिस समय यूनियन नेतृत्व को यूनियन जनवाद का पालन करते हुए सभी मज़दूरों और सभी सहयोगी संगठनों को जनरल बॉडी मीटिंगों में इकट्ठा करके रणनीति और रणकौशल को लेकर खुली बहस करानी चाहिए थी, उस समय वह "इंक़लाबी- क्रान्तिकारी कॉमरेडों" के साथ बन्द कमरों में गुपचुप अन्दाज़ में योजना बना रहा था; जिस समय यूनियन नेतृत्व को खुले ट्रेड यूनियन जनवाद का पालन करते हुए सभी आम मज़दूरों की राय जाननी चाहिए थी, उस समय यूनियन नेतृत्व "प्रधानी" की संस्कृति का पालन करते हुए, मीटिंगों में केवल मज़दूरों को लिये गये फैसले सुना रहा था; और अब जब कि सारे रास्ते बन्द होते जा रहे हैं तो एक वह एक सोशल नेटवर्किंग साइट के ज़रिये सबसे सलाह माँग रहा है कि 'सुझाव दें कि अब एमएसडब्ल्यूयू क्या करे', तो इसका एक शब्द में यही उत्तर दिया जा सकता है–'आत्मालोचना'। यह इस पूरे आन्दोलन में नेतृत्व के राजनीतिक दिवालियापन को नहीं दिखला रहा तो और क्या दिखला रहा है?

निष्कर्षः

सवाल यह है कि ऐसी स्थिति पैदा क्यों हुई? ऐसी स्थिति इसलिए पैदा हुई क्योंकि

(1) आन्दोलन ने 7-8 नवम्बर 2012 में फिर से शुरू होने के बाद से ही कभी सही रणनीति और रणकौशल नहीं अपनाया; यह असफलता और ज़्यादा गम्भीर इसलिए है कि

(पेज 14 पर जारी)

मारुति सुज़ुकी मज़दूर आन्दोलन: इस अफ़सोसनाक हालत का ज़िम्मेदार कौन है?

(पेज 13 से आगे)

आन्दोलन में सही रणनीति और रणकौशल का ज़िक्र और उस पर बहस लगातार जारी भी थी, जैसा कि हम 'बिगुल मज़दूर दस्ता' की ओर से दिये गये सुझाव पत्रों का ज़िक्र करते समय बता चुके हैं। अगर इन सुझाव पत्रों पर असहमति/सहमति भी थी, तो भी इस पर खुले तौर पर सभी मज़दूरों और सहयोगी संगठनों के बीच बहस हो सकती थी। यूनियन नेतृत्व ने ऐसा क्यों नहीं किया? उल्टे जब कभी मंच से सही रणनीति और रणकौशल की बात की जाती थी, तो "इंक़लाबी-क्रान्तिकारी कॉमरेडों" के उकसावे पर इस बात को यूनियन नेतृत्व रोकने तक का प्रयास करता था। ऐसा ही एक वाकया 18 जुलाई 2013 के प्रदर्शन के समय हुआ जब 'बिगुल मज़दूर दस्ता' के वक्ताओं के समक्ष यह शर्त रखी गयी कि आप आन्दोलन के बारे में सिर्फ़ सकारात्मक और प्रशंसामूलक बातें करेंगे क्योंकि आपकी बातों के कारण मज़दूर बाद में यूनियन नेतृत्व को कठघरे में खड़ा कर देते हैं! ज़ाहिर है, 'बिगुल मज़दूर दस्ता' के सदस्यों ने इस शर्त को अस्वीकार कर दिया और यूनियन नेतृत्व को सूचित कर दिया कि चूँकि अब यूनियन नेतृत्व आत्मालोचना, पुनरावलोकन और परिवर्तन की क्षमता खो चुका है इसलिए अब 'बिगुल मज़दूर दस्ता' आन्दोलन को बाहर से समर्थन देगा और उसके मंच से कोई वक्तव्य नहीं रखेगा। यूनियन नेतृत्व आखिर अपने ही यूनियन के मज़दूरों से डरा हुआ क्यों था? यहीं से दूसरा कारण निकलता है।

(2) मारुति सुज़ुकी वर्कर्स यूनियन के भीतर ट्रेड यूनियन जनवाद का गम्भीर अभाव। शुरू से यूनियन नेतृत्व स्वयं ही "प्रधानी" की संस्कृति को सचेतन तौर पर बढ़ावा देता रहा और कभी कोई खुली चर्चा, बहस-मुबाहिसा होने ही नहीं दिया। इस काम में "इंक़लाबी-क्रान्तिकारी कॉमरेडों" ने भी बन्द कमरों में कुत्साप्रचार और कानाफूसी के ज़रिये खूब मदद की। एक उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। 9 दिसम्बर 2012 को ऑटोमोबाइल मज़दूर सम्मेलन और प्रदर्शन में मारुति के मज़दूर ही कम संख्या में पहुँचे क्योंकि उन्हें यह बताया गया था कि कोई रैली नहीं निकाली जायेगी केवल अम्बेडकर भवन में सम्मेलन होगा। उस प्रदर्शन के असफल होने की स्थिति थी क्योंकि अन्य संगठनों के भी कुछ ही लोग आये थे। उसे दिन 'बिगुल मज़दूर दस्ता' एक जुलूस की शक्ल में करीब 500 मज़दूरों के साथ इस सम्मेलन में आया और बिगुल मज़दूर दस्ता के प्रयासों और दबाव के कारण ही पूरी नयी दिल्ली में मारुति मज़दूरों की सफल रैली निकली। इसके बाद "इंकलाबी-क्रान्तिकारी कॉमरेडों" ने अपने वास्तविक चरित्र को उजागर करते हुए यूनियन नेतृत्व से कहा कि अगले प्रदर्शनों के लिए 'बिगुल मज़दूर दस्ता' को यह हिदायत दी जाये कि वह ज़्यादा मज़दूरों को लेकर न आया करे क्योंकि इससे यूनियन की बजाय वह 'बिगुल मज़दूर दस्ता' का प्रदर्शन बन जाता है; यह बात दीगर है कि इन अवसरवादियों ने यह बात कभी सीटू, एटक, एचएमएस के लिए नहीं कही थी, क्योंकि उनके साथ तो उनका अन्दरूनी गठबन्धन था। ख़ैर, नतीजा यह हुआ कि यूनियन नेतृत्व के एक अग्रणी सदस्य ने, जो कि एक प्रेस सम्मेलन के दौरान गिरफ़्तार कर लिये गये थे और अब जेल में हैं, 'बिगुल मज़दूर दस्ता' के संगठनकर्ताओं को दिल्ली के अगले प्रदर्शन के पहले फोन करके कहा कि आप ज़्यादा लोगों को लेकर मत आइयेगा!! जब उस प्रदर्शन में मज़दूरों ने 'बिगुल मज़दूर दस्ता' के संगठनकर्ताओं से पूछा कि आप लोग पिछली बार की तरह ज़्यादा ताक़त लेकर क्यों नहीं आये, तो 'बिगुल' के साथी ने मज़दूरों को बताया कि यूनियन नेतृत्व के ही एक ज़िम्मेदार व्यक्ति ने उन्हें कहा था कि ज़्यादा मज़दूरों को समर्थन में मत लेकर आइये! इससे मज़दूरों को काफ़ी गुस्सा आया और जब मज़दूरों ने यूनियन नेतृत्व के उस साथी से पूछा कि 'बिगुल मज़दूर दस्ता' के साथियों से कम मज़दूरों को लेकर आने के लिए क्यों कहा गया, तो उनके लिए शर्मिन्दगी की स्थिति पैदा हो गयी। लेकिन हद तो तब हुई जब उन्होंने इस बात की शिकायत 'बिगुल मज़दूर दस्ता' से की कि उसने मज़दूरों के सामने यह बात खोल क्यों दी? जाहिर है यूनियन का नेतृत्व खुद मज़दूरों से तमाम चीज़ें छिपाकर करता था और उनके साथ मिलकर, उन्हें शामिल करके निर्णय लेने की बजाय बन्द कमरों में रायसाहबों के साथ गुपचुप करके फैसले लेता था। इससे जहाँ एक ओर "इंक़लाबी-क्रान्तिकारी कॉमरेडों" का भी असली चरित्र सामने आता है, जो वैसे तो "मज़दूर नियन्त्रण, मज़दूर जनवाद और मज़दूर स्वत:स्फूर्तता" का भजन गाते रहते हैं, लेकिन स्वयं एम.एस.डब्ल्यू.यू. में जनवाद-विरोधी और षड्यन्त्रकारी हरक़तें करते रहे; वहीं, इससे यूनियन नेतृत्व द्वारा खुद यूनियन जनवाद की अवहेलना करने की प्रवृत्ति सामने आती है। जाहिर है, आन्दोलन में कभी आन्तरिक जनवाद सक्रिय हो ही नहीं पाया और इसी वजह से आम मज़दूरों की राजनीतिक वर्ग चेतना का स्तरोन्नयन हमेशा बेहद कम हो पाया।

(3) आन्दोलन नेतृत्व ने मारुति सुज़ुकी के मसले को हरियाणा का स्थानीय मसला बना कर स्वयं अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारी, क्योंकि मारुति सुज़ुकी का मसला प्रकृति से ही राष्ट्रीय मसला था और आन्दोलन के केन्द्र को दिल्ली स्थानान्तरित करके इसे और बड़ा मसला बनाया जा सकता था। लेकिन लगातार इस बारे में चेताये जाने के बावजूद यूनियन नेतृत्व कभी यह निर्णय नहीं ले पाया। उल्टे जब 18 जुलाई को मानेसर संयंत्र में हुई घटना की बरसी पर यूनियन के प्रदर्शन में (जो कि बुरी तरह से फ्लॉप हुआ) यूनियन नेतृत्व के सदस्य ने मंच से कहा कि चाहे जो भी हो जाये हम हरियाणा के कैथल में ही प्रदर्शन करेंगे, दिल्ली किसी सूरत में नहीं जायेंगे और कैथल में अगर प्रदर्शन की आज्ञा नहीं मिली तो हम कोर्ट में इसके लिए केस लड़ेंगे!! यानी, अब मारुति सुज़ुकी मज़दूर आन्दोलन के सारे असली मुद्दे कूड़े के डिब्बे में फेंक दिये गये और असली मसला यह बन गया कि कैथल में प्रदर्शन करने के लिए केस लड़ा जाय!! यूनियन नेतृत्व का यह ज़िद्दी और अड़ियल रवैया राजनीतिक दिवालियेपन को नहीं तो और क्या दिखलाता है?

(4) वैसे तो "इंक़लाबी-क्रान्तिकारी कॉमरेडों" ने अपने संकीर्ण सांगठनिक हितों के लिए "मज़दूरों की स्वत:स्फूर्तता" और "स्वतन्त्र नेतृत्व और निर्णय" की खूब दुहाई थी और खूब जश्न मनाया लेकिन सच्चाई यह थी कि आन्दोलन के नेतृत्व में कभी भी स्वतन्त्र रूप से निर्णय लेने का साहस और क्षमता नहीं रही और न ही इन अवसरवादियों और संघाधिपत्यवादियों ने कभी ऐसा साहस या क्षमता पैदा करने की प्रक्रिया को प्रेरित किया। पहले यह गुड़गाँव-मानेसर में केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों के दल्लालों की पूँछ पकड़कर चलता रहा; उसके बाद "इंक़लाबी-क्रान्तिकारी कॉमरेडों" के रायबहादुरों के मन्त्र और रामबाण नुस्खे सुनता रहा; उसके बाद कैथल जाने पर वह धनी किसानों और कुलकों के नुमाइन्दे खाप पंचायतों की गोद में जा बैठा; और जब 19 मई के दमन के बाद खाप पंचायतों ने अपना रास्ता पकड़ा तो घूम-फिर कर यूनियन नेतृत्व फिर से केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों के गद्दारों के सहारे आ गया कि शायद वे ही सरकार से कुछ सुनवाई-समझौता करा दें। इसमें "स्वत:स्फूर्तता और स्वतन्त्र निर्णय" कहाँ है!? मज़ेदार बात यह है कि इन अवसरवादी, अराजकतावादी और संघाधिपत्यवादी "इंक़लाबी-क्रान्तिकारी कॉमरेडों" को भी इस सारे कार्य-कलाप से कोई लाभ नहीं हुआ और न ही उनके संकीर्ण सांगठनिक हित इससे सध सके! हाँ, इससे पूरे आन्दोलन का नुकसान उन्होंने ज़रूर किया।

(5) यूनियन नेतृत्व स्वयं राजनीतिक चेतना की कमी का शिकार रहा; यही कारण था कि वह कहीं भी रणनीति बनाने में मज़दूर वर्ग के दृष्टिकोण से सही और ग़लत का फैसला नहीं करता था, बल्कि इस बात से फैसला करता था कि किस इलाके में किसकी कितनी ताक़त है! जो ताक़तवर है उसकी गोद में बैठने के लिए यूनियन नेतृत्व तत्पर रहता था, हालाँकि कई मामलों में यूनियन नेतृत्व के कुछ लोगों को यह पता था कि ऐसी ताक़तें मज़दूर वर्ग की विरोधी या उसकी ग़द्दार है। मसलन, केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों और खाप पंचायतों को आन्दोलन का नेतृत्व सौंप देना इसी "ताक़तवर के पीछे चलो" की मानसिकता का परिणाम था। सवाल यह है कि अन्त में इससे हासिल क्या हुआ? आज आन्दोलन जिस हताशा और विफलता का शिकार है उसका कारण यूनियन नेतृत्व का यह व्यवहारवाद और अवसरवाद भी था।

(6) यूनियन नेतृत्व ने देश और दुनिया में मारुति आन्दोलन के प्रचार को कुछ ज़्यादा ही गम्भीरता से ले लिया और कुछ ज़्यादा ही उत्साहित हो गया। जब "इंक़लाबी-क्रान्तिकारी कॉमरेडों" ने दिल्ली से कोलकाता तक थोड़ा व्याख्यान टूरिज़्म करा दिया तो यह छद्म उत्साह और अधिक बढ़ गया। पूरे देश के शहरों में बीच-बीच में प्रदर्शन करवाने पर यूनियन नेतृत्व काफ़ी ऊर्जा खर्च करता था, जिसकी कोई ज़रूरत नहीं थी। अगर संघर्ष अपनी जगह पर मज़बूत होगा तो देश के अलग-अलग हिस्सों में स्वयं एकजुटता में मज़दूर और मज़दूर संगठन प्रदर्शन करेंगे, अपने ज्ञापन और समर्थन पत्र भेजेंगे। लेकिन आन्दोलन स्वयं अपनी ज़मीन पर तो बिखरता रहा और यूनियन नेतृत्व चेन्नई, पटना, मुम्बई और कोलकाता के प्रदर्शनों का दौरा करता रहा और उस पर प्रफुल्लित होता रहा। इन शहरों में हर जगह 25-30 बुद्धिजीवी व कार्यकर्ता इकट्ठा होकर प्रदर्शन कर देते थे। निश्चित रूप से ये प्रदर्शन भी आन्दोलन को आगे बढ़ाते और गति प्रदान करते अगर आन्दोलन खुद भी वास्तविक तौर पर अपनी जगह-ज़मीन पर आगे बढ़ रहा होता। 'बिगुल मज़दूर दस्ता' ने फरवरी 2013 में ऐसे प्रदर्शनों में हिस्सेदारी करते हुए भी यूनियन को सलाह दी थी कि केवल एकजुटता में देश के अलग-अलग शहरों में कुछ लोग जुट जाएँगे, तो इससे आन्दोलन अपने आप आगे बढ़ने वाला नहीं है और यूनियन नेतृत्व को पहले मज़दूरों को व्यापक तौर पर एकजुट करके एक जगह खूँटा गाड़कर बैठने की तैयारी करनी चाहिए, न कि कोलकाता, मुम्बई, पटना के प्रदर्शनों का दौरा। लेकिन राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय पर्यवेक्षकों द्वारा निकाली जाने वाली रिपोर्टों, इन रिपोर्टों को जारी करने के समारोहों में भाषण देने के लिए बुलाए जाने और इसके आधार पर हो रहे प्रचार का आनन्द लेने और एक छद्म नायकत्वबोध में आने की प्रवृत्ति यूनियन नेतृत्व के भीतर थी भी और "इंक़लाबी-क्रान्तिकारी कॉमरेडों" ने उसे सचेतन तौर पर बढ़ावा भी दिया। ये सारा प्रचार फायदेमन्द हो सकता था, अगर आन्दोलन वास्तविक अर्थों में राजनीतिक और सांगठनिक तौर पर सही रणनीति के साथ आगे बढ़ता और मज़बूत होता। अपने आपमें इस प्रचार के बूते कोई आन्दोलन न तो आज तक जीता गया है, और न ही जीता जा सकता है। मारुति सुज़ुकी मज़दूर संघर्ष के ही मामले को देख कर आज क्या यह पूछा नहीं जा सकता कि ऐसे राष्ट्रीय, अन्तरराष्ट्रीय प्रचार और प्रसिद्धि और इण्टरनेट प्रचार के बावजूद अन्त में हासिल क्या हुआ?

(7) अन्त में, इन सबके पीछे जो एक बुनियादी कारण काम कर रहा था वह था आन्दोलन के नेतृत्व पर अपने आपको मज़दूरों का "इंक़लाबी केन्द्र" और नौजवानों की "क्रान्तिकारी सभा" घोषित करने वाले संगठनों के रायसाहबों की रायबहादुरी, कुत्साप्रचार और अवसरवाद। इन रायबहादुरों ने आन्दोलन और यूनियन नेतृत्व में सक्रिय विजातीय और हानिकारक प्रवृत्तियों को पैदा भी किया और उन्हें लगातार बढ़ावा भी दिया। यह इन अवसरवादियों का प्रभाव ही था कि यूनियन नेतृत्व कभी भी आत्मालोचना करने की काबिलियत और समय रहते ग़लत रणनीति, रणकौशल और प्रवृत्तियों को दुरुस्त कर लेने की क्षमता को खो बैठा। ये अराजकतावादी यूनियन नेतृत्व की स्वत:स्फूर्तता का जश्न मनाने के नाम पर हर ग़लत प्रवृत्ति को प्रश्रय और प्रोत्साहन देते रहे। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि मारुति मज़दूर आन्दोलन की असफलता के लिए मुख्य तौर पर कोई कारक ज़िम्मेदार है तो वह है आन्दोलन में इन "इंक़लाबी-क्रान्तिकारी कॉमरेडों" के अराजकतावाद, संघाधिपत्यवाद, अवसरवाद और अर्थवाद का प्रभाव। इस प्रभाव ने एक बहुत बड़ी क़ीमत मज़दूरों से वसूल की है। न सिर्फ़ मारुति के मज़दूरों से बल्कि गुड़गाँव-मानेसर के ऑटोमोबाइल पट्टी के मज़दूरों से। क्योंकि इस आन्दोलन को इलाके और ऑटोमोबाइल सेक्टर के सभी मज़दूर उम्मीद के साथ देख रहे थे। इस आन्दोलन में मज़दूरों की हार और कम्पनी मैनेजमेण्ट व सरकार की जीत ने आम तौर पर मज़दूरों के हौसले को तोड़ा है, पूँजीपतियों और प्रबन्धन की आक्रामकता को बढ़ाया है। पूँजी की ताक़तें अब हर मज़दूर संघर्ष में इस संघर्ष की असफलता को एक मिसाल के तौर पर इस्तेमाल करेंगे और मज़दूरों का हौसला तोड़ने का प्रयास करेंगे। यह दीगर बात है कि मज़दूर इसके बावजूद अन्तत: लड़ेंगे और डट कर लड़ेंगे। लेकिन निश्चित तौर पर इन "इंकलाबी-क्रान्तिकारी कॉमरेडों" के अवसरवाद ने गम्भीर नुकसान पहुँचाया है। ●

चुनाव नहीं ये लुटेरों के गिरोहों के बीच की जंग है

(पेज 1 से आगे)

यह बात बिल्कुल साफ हो चुकी है कि देश को चलाने के सवाल पर किसी पार्टी की बुनियादी नीतियों में कोई अन्तर नहीं है। तभी तो बड़े आराम से इस गठबन्धन के दल उछलकर उस गठबन्धन में शामिल हो जा रहे हैं।

तब फिर सवाल उठता है कि चुनाव किस बात का? चुनाव में फैसला महज़ इस बात का होना है कि अगले पाँच साल तक सिंहासन पर बैठकर जनता को डसने और ख़ून चूसने का अधिकार कौन हासिल करेगा।

देश का पूँजीवादी जनतंत्र आज पतन के उस मुकाम पर पहुँच चुका है, जहाँ अब इस व्यवस्था के दायरे में ही सही, छोटे-मोटे सुधारों के लिये भी आम जनता के सामने कोई विकल्प नहीं है। अब तो जनता को इस चुनाव में चुनना सिर्फ यह है कि लुटेरों का कौन सा गिरोह उन पर सवारी गाँठेगा। विभिन्न चुनावी पार्टियों के बीच इस बात के लिये चुनावी जंग का फैसला होना है कि कुर्सी पर बैठकर कौन देशी-विदेशी पूँजीपतियों की सेवा करेगा। कौन मेहनतकश अवाम को लूटने के लिये तरह-तरह के कानून बनायेगा। कौन मेहनतकश की आवाज कुचलने के लिये दमन का पाटा चलायेगा।

दिल्ली, राजस्थान, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़ और मिज़ोरम में विधानसभा चुनाव का रंग छाया हुआ है। सभी चुनावबाज़ पार्टियों के नेता बड़े-बड़े नारों-वादों के साथ जनता के बीच जा रहे हैं।

राजधानी दिल्ली में कांग्रेस अपने पन्द्रह साल के "विकास" का ढोल पीट रही है, तो वहीं भाजपा "सुशासन" के लिए अपना दावा ठोक रही है, साथ ही आम आदमी पार्टी "भ्रष्टाचार-मुक्त दिल्ली" बनाने के सपने दिखा रही है। मगर सवाल यह है कि जब आज महँगाई आसमान छू रही है, थाली से दाल-सब्ज़ी ग़ायब हैं, बेहतर शिक्षा, चिकित्सा, आवास की सुविधा मेहनतकश आबादी की पहुँच से कोसों दूर हो रही है, तो फिर हम चुनाव में किसे वोट दें? आज कौन-सी पूँजीवादी चुनावी पार्टी हमें इस नारकीय हालात में कुछ राहत पहुँचा सकती है!? क्या 62 साल ये समझने के लिए काफी नहीं हैं कि इन पूँजीवादी चुनावों में धनबल और बाहुबल की जो नुमाइश और आज़माइश होती है, उसमें कोई भी पार्टी जीते, लेकिन हार आम मेहनतकश जनता की ही होती है।

मेहनतकश साथियो! ज़रा इन मुद्दों पर सोचिए। पहला, आज दिल्ली में लगभग 50 लाख मज़दूर आबादी तमाम फ़ैक्टरी, कारखानों, दुकानों से लेकर राजमिस्त्री, बेलदारी जैसे कामों में जी-तोड़ मेहनत के बावजूद मुश्किल से अपने परिवार का पेट भर पा रही है। यूँ तो दिल्ली सरकार ने मज़दूरों के 8 घण्टे काम के लिए न्यूनतम मज़दूरी तय कर रखी है, जो मौजूदा समय में लगभग 9000 है लेकिन क्या हमारी मुख्यमंत्री को नहीं पता कि आज 8 घण्टे कानून से लेकर न्यूनतम मज़दूरी कानून तक पूँजीपतियों, मालिकों और ठेकेदारों की जेब में रहते है? क्या हमारे विधायकों को नहीं पता कि फ़ैक्टरियों में मज़दूरों की मौत या दुर्घटना होने पर न तो कोई उचित मुआवज़ा मिलता है और न ही न्याय? वैसे तो सरकार द्वारा तय की गयी न्यूनतम मज़दूरी ही मज़ाक है। इसमें केवल मज़दूर परिवार के न्यूनतम ज़रूरी भोजन-सम्बन्धी ख़र्च को आधार बनाया जाता है, यानी बस बमुश्किल जीने की खुराक ताकि मज़दूर अगले दिन फिर कोल्हू के बैल की तरह खटकर मालिकों की तिजोरी भरने आ सके। जबकि दूसरी तरफ अगर दिल्ली के विधायकों के वेतन पर ग़ौर करे तो उन्हें सारे सरकारी भत्तों-सुविधाओं के साथ 82,000 रुपये मुफ़्त में मिल जाते है।

सरकार ने 15वें राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन (1957) की सिफ़ारिश के अनुसार न्यूनतम मजदूरी की गणना में प्रत्येक कमाने वाले पर तीन व्यक्तियों के प्रति व्यक्ति 2700 कैलोरी खाद्यान्न, कपड़ा, आवास, ईधन, बिजली आदि के ख़र्च को शामिल करने की बात कही थी। इसके अतिरिक्त शिक्षा, दवा-इलाज़, पर्व-त्योहार, शादी एवं बुढ़ापे का ख़र्च भी न्यूनतम मज़दूरी में शामिल होना चाहिए। इन सब ख़र्चों के आधार पर आज न्यूनतम मज़दूरी 15,000 रुपये तय होनी चाहिए जो एक मज़दूर की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा कर सकें।

लेकिन हम सभी जानते हैं कि ऐसी तमाम सिफारिशें और मज़दूरों के लिए बने 260 श्रम कानून असल में 'शर्म क़ानून' बनकर रह गये हैं। श्रम अधिकारों की रक्षा करने वाला लेबर कोर्ट दलालों-ठेकेदारों का अड्डा हैं जहाँ लेबर इंस्पेक्टर से लेकर लेबर कमिश्नर तक मालिकों के पक्ष में खड़े रहते हैं। ये गोरखधन्धा नेताओं-मंत्रियों, पूँजीपतियों और लेबर कोर्ट की साँठ-गाँठ के बूते ही चलता है। इसका सबसे बड़ा कारण तो ये है कि फ़ैक्टरी मालिक, व्यापारी किसी न किसी चुनावबाज़ पार्टी से जुड़े होते हैं या इन्हीं नेताओं-मंत्रियों की ही फ़ैक्टरियाँ चल रही हैं। ये ही पूँजीपति हैं जो कांग्रेस, भाजपा से लेकर सभी चुनावी पार्टियों को चुनाव के समय करोड़ों-करोड़ के चन्दे देते हैं। ज़ाहिर है कि ये धन्नासेठ, व्यापारी, ठेकेदार और मालिक समाजसेवा के लिए ये चन्दे नहीं देते। ये सभी चुनावी पार्टियों के मुँह में हड्डी इसीलिए पकड़ाते हैं कि सरकार चाहे किसी भी चुनावी दल्लाल की बने, नीतियाँ पूँजीपतियों की सेवा के लिए ही बनें। चाहे किसी भी चुनावबाज़ पार्टी की सरकार बने, वह पूँजीपतियों की 'मैनेजिंग कमेटी' का ही काम करती है। तभी 2009 लोकसभा चुनाव में टाटा-अम्बानी जैसे बड़े पूँजीपतियों ने 50-50 करोड़ रूपये का चन्दा कांग्रेस-भाजपा दोनों को दिया ताकि सत्ता में कोई भी आये, लेकिन नीतियां मालिकों के लिए ही बनाए।

अब बात ज़रा आम आदमी पार्टी (आप) के ईमानदार उम्मीदवारों की!! ये तथाकथित ईमानदारी के पुतले लूट और मुनाफ़े पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था के खूनी चेहरे पर पर्दा डालकर मेहनतकश आबादी को "भ्रष्टाचार मुक्त भारत" के झूठे सपने दिखा रहे हैं। क्योंकि पहला सवाल तो ये है कि केजरीवाल एण्ड पार्टी अपने तमाम उम्मीदवारों और कार्यकर्त्ताओं द्वारा चलाये जा रहे फ़ैक्टरी-कारखानों या दुकानों में श्रम-कानून के उल्लंघन के खिलाफ कोई आवाज़ क्यों नहीं उठाते। इसी से पता चलता है कि भ्रष्टाचार-विरोध की इस नौटंकी की असलियत क्या है। मगर सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि केजरीवाल एण्ड पार्टी असल

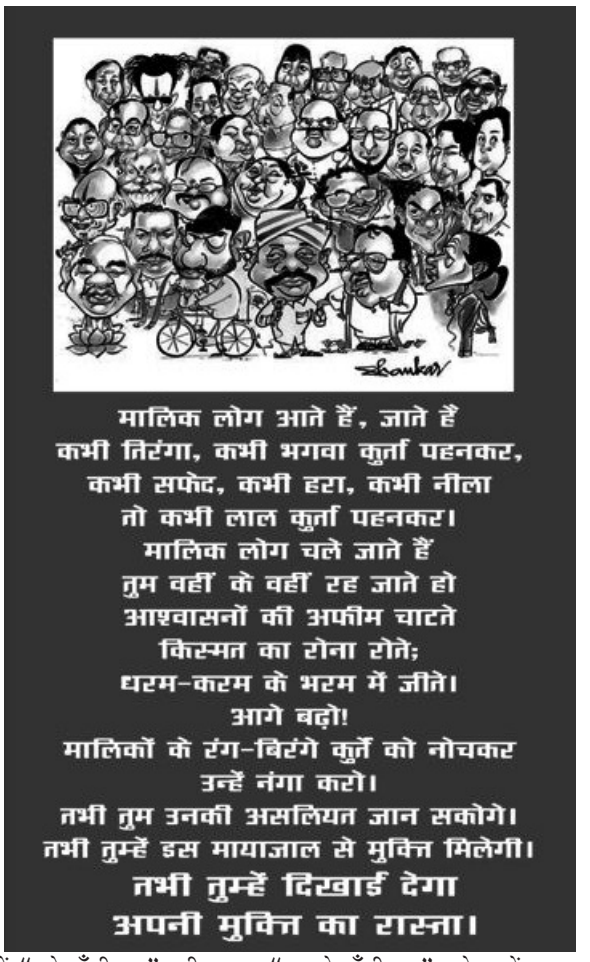

में "बुरे पूँजीवाद" की जगह "अच्छे पूँजीवाद" को क्यों लाना चाहती है? क्या उन्हें पता नहीं कि सन्त और भले पूँजीवाद जैसी कोई चीज़ नहीं होती? क्या केजरीवाल, योगेन्द्र यादव, प्रशान्त भूषण जैसे पढ़े-लिखे लोग यह नहीं जानते कि पूँजीवाद स्वयं एक भ्रष्टाचार है जो मज़दूरों के मेहनत की लूट और प्रकृति की लूट पर ही टिका रह सकता है? साफ है कि आम आदमी पार्टी भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवाद का दिवास्वप्न दिखाकर मध्य और निम्नमध्य वर्ग को बेवकूफ बना रही है और अन्त में उसका मकसद भी पूँजीपति वर्ग की ही सेवा करना है।

मेहनतकश साथियो! अब वक्त आ गया है कि हम इन चुनावी मदारियों के भ्रम से खुद को आज़ाद करें! हम भी दिल ही दिल जानते हैं कि कांग्रेस, भाजपा, सपा, बसपा, और आप जैसी चुनावबाज़ पार्टियों का लेना-देना सिर्फ़ मालिकों, ठेकेदारों और दल्लालों के साथ है! उनका काम ही है इन लुटेरों के मुनाफ़े को सुरक्षित करना और बढ़ाना! ऐसे में, कुछ जूठन की चाहत में, क्षेत्रवाद और जातिवाद के कारण या फिर धर्म आदि के आधार पर इस या उस चुनावी मेंढक को वोट डालने से क्या बदलेगा? क्या पिछले 62 वर्षों में कुछ बदला है?

ऐसे में मेहनतकश अवाम के सामने विकल्प क्या है? 'बिगुल' के पन्नों पर हम बार-बार यह सच्चाई दुहराते रहे हैं कि विकल्प एक ही है–मौजूदा पूँजीवादी जनतंत्र का नाश और उसके स्थान पर मेहनतकशों के सच्चे जनतंत्र की स्थापना। केवल तभी मेहनतकशों को देशी-विदेशी पूँजी की गुलामी से सच्ची आज़ादी मिलेगी और पूँजीवादी जनतंत्र का पहाड़ जैसा बोझ छाती से हटाया जा सकेगा। मौजूदा पूँजीवादी जनतंत्र को उखाड़ फेंककर ही एक ऐसा समाज बनाया जा सकता है, जिसमें उत्पादन, राजकाज और पूरे समाज पर मेहनतकश अवाम का नियंत्रण कायम हो। केवल तभी भूख, बेकारी, भ्रष्टाचार से मुक्त एक नया मानवीय समाज बनाया जा सकता है।

मेहनतकश अवाम के हरावलों को मौजूदा लोकसभा चुनाव के मौके पर पूँजीवादी जनतंत्र का ठोस ढंग से भण्डाफोड़ करने के साथ ही साथ ही आम मेहनतकशों के बीच यह विकल्प भी पेश करना होगा। भले ही आज आम मेहनतकश अवाम को यह असम्भव सा लगे लेकिन हमें उनके दिलों में यह विश्वास जमाना ही होगा कि यह सम्भव है और यही एकमात्र रास्ता है।

डाक पंजीयनः *SSP/LW/NP-319/2011-2013*
प्रेषित डाकघरः आर.एम.एस. चारबाग, लखनऊ
प्रेषित तिथिः दिनांक 20 प्रत्येक माह

'लव-जिहाद' और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का जनसंख्या विज्ञान

एक धार्मिक समुदाय के बीच किसी दूसरे धार्मिक समुदाय के बारे में झूठा प्रचार करना फ़ासीवादियों तथा धार्मिक-दक्षिणपंथी शक्तियों का पुराना हथकण्डा रहा है। फिर यह कैसे हो सकता था कि इस मामले में भारत के संघी-मार्का फ़ासीवादी पीछे रह जायँ। भाजपा के 2014 के लोकसभा चुनावों के लिए पीएम उमीद्वार नरेन्द्र मोदी ने 2002 के गुजरात दंगों के बाद वहाँ हुए चुनाव के दौरान कहा था - "हम (मतलब हिन्दू) दो हमारे दो, वो (मतलब मुस्लिम) पाँच उनके पचीस।" इसके बाद 2004 में विश्व हिन्दू परिष्द के अशोक सिंघल ने हिन्दुओं के आगे परिवार नियोजन छोड़ने का ढोल पीटा। अशोक सिंघल यह तुर्रा बहुत पहले से छोड़ते आ रहे हैं, और भाजपाई सरकार वाले राज्यों में तो वह सरकारी मंच से यह मसला उछालते रहते हैं। पिछले 3-4 सालों में संघियों ने अपने इसी जनसंख्या विज्ञान को फिर से दोहराना शुरू कर दिया है, लेकिन अब वे इसे नए रंग में लपेट कर लाए हैं। पहले संघी संगठन मुसलमानों द्वारा अपनी जनसंख्या बढ़ाने का हौवा ही खड़ा करते थे, अब उन्होंने ने इसमें "लव-जिहाद" का डर भी जोड़ दिया है। संघियों के अनुसार मुसलमानों ने (यहाँ संघी मुस्लिम कट्टरपंथी संगठन कहना भी वाजिब नहीं मानते क्योंकि संघियों के लिए सभी मुस्लिम लोग मुस्लिम कट्टरपंथी संगठनों के सदस्य हैं) हिन्दू नवयुवतियों को प्यार के जाल में फँसाकर अपनी आबादी बढ़ाने के लिए मशीनों की तरह इस्तेमाल करने के लिए "लव-जिहाद" नामक "गुप्त" संगठित अभियान छेड़ा हुआ है।

विश्व हिन्दू परिषद के नेता इस साल सितम्बर महीने में हुए मुज्जफरनगर दंगों के पीछे "लव-जिहाद" का हाथ होने की रट लगा रहे हैं। इससे पहले, "लव-जिहाद" का प्रयोग केरल तथा कर्नाटक में चल ही रहा था। इस साल महाराष्ट्र में भी संघ से जुड़े संगठनों ने "लव-जिहाद" का "मुकाबला" करना शुरू किया है। 2010 में दक्षिण कर्नाटक में सरगर्म तथा संघ से जुड़े संगठन हिन्दू जनजागृति समिति ने प्रचार शुरू किया कि प्रान्त में 30,000 हिन्दू नवयुवतियों को "लव-जिहाद" वालों ने अपने प्यार-चक्कर में फांसकर मुस्लिम बना लिया है। ऐसा ही प्रचार केरल में भी शुरू किया जा चुका था। केरल की उच्च अदालत ने इसकी जाँच के आदेश दिए, मगर पुलिस को ऐसे किसी भी जिहाद का कोई एक सबूत भी नहीं मिला, नतीजतन उच्च अदालत ने जाँच को बंद करा दिया। मगर न्यायपलिका में भी संघी प्रचार की घुसपैठ है, जिसका सबूत कर्नाटक उच्च अदालत ने दिया। 2010 में यहाँ एक 23 वर्षीय हिन्दू लड़की के मामले में, जिसने एक मुस्लिम लड़के से शादी करके धर्मपरिवर्तन कर लिया था, फैसला सुनाया कि लड़की को उसके माता-पिता के हवाले किया जाये और साथ में यह भी कहा कि उस लड़की का मुस्लिम लड़के से शादी करना तथा धर्मपरिवर्तन करना औरतों की सुरक्षा के मामले में देशस्तरीय महत्ता वाला मसला है, साथ ही औरतों के व्यापार का मामला भी है। बाद में कर्नाटक पुलिस की जाँच से पता चला कि जिस संघ के फ़ासीवादी गिरोह हिन्दू जनजागृति समिति ने जिस समय-अवधि के दौरान 30,000 हिन्दू लड़कियों के गुम होने का प्रचार किया है, उस समय-अवधि में ऐसी सिर्फ़ 404 लड़कियाँ गुम हुई और उनमें से 332 को पुलिस ने ढूँढ़ निकाला। पुलिस की जाँच से यह भी सामने आया कि इनमें से ज़्यादातर मामलों में हिन्दू लड़कियाँ हिन्दू लड़कों से शादी करने के लिए घर से गयी थीं। मगर संघी फ़ासीवादी तो हिटलर के प्रचार मन्त्री गोयेबल्स परमभक्त हैं, इसलिए उन्होंने अपना झूठा प्रचार न सिर्फ कर्नाटक में जारी रखा, बल्कि इसे और राज्यों में फैलाया भी है।

महाराष्ट्र के नासिक तथा धुले के इलाकों में संघ से जुड़े बजरंग दल तथा अन्य संगठनों का दावा है कि पिछले एक साल में उन्होंने 4000 "भटक" गयी हिन्दू लड़कियों को "लव-जिहाद" के चुंगल से आज़ाद कराया है। इन संगठनों के कार्यकर्ता जगह-जगह फैले रहते हैं और अपने-अपने इलाके में होने वाली किसी भी अन्तर-धार्मिक शादी, विशेष तौर पर मुस्लिम लड़के तथा हिन्दू लड़की के बीच होने वाली शादियों पर नज़र रखते हैं। ऐसा होने पर वे लड़की के माँ-बाप से संपर्क करते हैं और उनको शादी रोकने के लिए मनाते हैं, ये गुण्डा गिरोह लड़की के माँ-बाप को शादी रुकवाने के लिए कैसे मनाते होंगे, यह समझा ही जा सकता है। ये लोग कॉलजों तथा अन्य जगहों पर हिन्दू लड़कियों पर नजर रखते हैं और किसी लड़की का मुस्लिम लड़के से प्रेम का मामला सामने आने पर उस लड़की को "समझाते" हैं और उस लड़की के घर जाकर परिवार को लड़की को रोकने के लिए कहते हैं। ये गिरोह उन मोटरसाइकिल पर भी नज़र रखते हैं जिनपर लड़के के पीछे लड़की बैठी हो। ये लोग मोटरसाइकिल का नंबर लेके स्थानीय ट्रांसपोर्ट दफ़्तर से यह पता करते हैं कि मोटरसाइकिल हिन्दू की है या मुस्लिम की, और अगर मोटरसाइकिल मुस्लिम की है तो उसके पीछे बैठी लड़की हिन्दू ही होगी! इनका यह भी कहना है कि ट्रांसपोर्ट दफ़्तर के लोग बहुत "मदद" करते हैं। सरकारी तन्त्र में संघियों की घुसपैठ कहाँ तक है, यह इसकी एक और मिसाल है। यह बिलकुल आश्चर्यजनक नहीं कि गुजरात दंगों के वक्त दंगाइयों के पास मुसलमानों की दुकानों तथा घरों की पूरी लिस्ट मौजूद थी।

आश्चर्य की बात भी यह है कि कर्नाटक और केरल में "लव जिहाद" के विरोध में ईसाई धर्म के पादरी भी संघियों के सुर में सुर मिला रहे हैं, हालांकि कर्नाटक उन राज्यों में से है यहाँ संघी फ़ासीवादियों के गिरोहों ने ईसाई लोगों के खिलाफ़ सब से ज़्यादा हिंसा फैलाई है। केरल में तो कुछ साल पहले केरल के तब के मुख्यमंत्री अच्युतानन्दन भी संघियों की सुर में सुर मिलाने लगे थे। "लव जिहाद" का मामला सिर्फ मुसलमानों के खिलाफ प्रचार का ही मामला नहीं है, असल में पूरे समाज में औरत-विरोधी सामन्ती सोच को बढ़ावा देने का भी मामला है। इसलिए "लव जिहाद" के मामले पर वे शक्तियाँ एक ही जगह आ खड़ी हुई हैं जो औरतों के द्वारा अपनी जिंदगी के फैसले खुद लेने के जनवादी अधिकार को किसी सूरत में न मानने पर तुले हुए हैं। हैरानी की बात तो यह है कि कर्नाटक की अदालत तक दो युवाओं के विवाह करने के फैसले को मान्यता नहीं देती है जो कि उनका संवैधानिक तथा जनवादी अधिकार है और साथ ही इस अदालत ने किसी भारतीय नागरिक के किसी भी धर्म को मानने या न मानने के अधिकार की सरेआम धज्जियाँ उड़ाई हैं। जिस अदालत को संविधान की रक्षा करनी चाहिए, वही क़ानून के ख़िलाफ़ फ़ैसले सुना रही है। इससे पता चलता है कि सामन्ती मूल्य-मान्यताएँ भारतीय समाज में कितने गहरे तक पैठ हुई हैं और फ़ासीवादी-धार्मिक-पुरुष वर्चस्ववादी शक्तियों का सामाजिक आधार कितना बड़ा है। ये शक्तियाँ ना सिर्फ़ बालिग युवक-युवतियों द्वारा अपनी जिंदगी के फैसले खुद करने के अधिकार को मानने के लिए तैयार नहीं, बल्कि ये औरतों के बच्चा पैदा करने सम्बन्धी अधिकार को भी नहीं मानना चाहते। इनकी सोच औरत को बच्चा पैदा करने वाली मशीन समझने की ही है जो पूरी तरह से पुरुष के अनुसार पुरुष की मर्जी से बच्चे पैदा करे। असल में इन लोगों के लिए औरत या तो पुरुष, परिवार या धर्म की इज्जत से जुड़ी कोई 'चीज़' है, या फिर भोगने की, मर्द की यौन-ऐयाशी की चीज़ है, और या फिर बच्चे पैदा करने की मशीन। इससे ज़्यादा फ़ासीवादी, धार्मिक कट्टरपंथी तथा पुरुष-वर्चस्ववादी सोच ही क्या सकते हैं, चाहे वे किसी भी धर्म, देश, इलाके के हों। हिटलर के नाजी भी यही सोचते थे, उनके लिए औरतें सिर्फ ऊँची आर्य जाति की संख्या बढ़ाने का एक जरिया थीं और अपनी इस सोच को लागू करने के लिए नाजियों ने औरतों पर क्या-क्या जुल्म किए, यह एक अलग कहानी है।

अब थोड़ा संघी ब्रिगेड के जनसंख्या विज्ञान पर भी नज़र डालते हैं। यह पिछले एक-दो दशक में सामने आया "भगवा" विज्ञान नहीं है। एक सदी पहले 1909 में पंजाब हिन्दू महासभा के सह-संस्थापक य.न. मुखर्जी ने एक किताब लिख कर संघ के जनसंख्या विज्ञान का सिद्धान्त पेश किया था, जिसके अनुसार देश में मुस्लिम लोग ज़्यादा बच्चे पैदा करके हिन्दुओं से अपनी जनसंख्या अधिक करने वाले हैं और इस तरह बहुत जल्दी ही मुसलमान भारत पर कब्जा कर लेंगे। मुखर्जी का "विज्ञान" तो समय के साथ औन्धे मुँह गिर चुका है मगर उसके पैरोकारों ने इस विज्ञान का प्रचार नहीं छोड़ा है। संघ के ताजा "लव-जिहाद" वाले झूठे प्रचार की असलियत तो हम देख ही चुके हैं। अब इनके दूसरे तर्कों की बात करते हैं जिनका भारत के अच्छे-खासे हिस्से पर असर है जिसमें आम मज़दूर-गरीब लोगों के अलावा मध्यवर्गीय तथा बुद्धिजीवी तबके के बहुतेरे लोग भी शामिल हैं।

संघियों द्वारा सबसे ज़्यादा पेश किया जाने वाला तर्क यह है कि मुसलमान पुरुष 3-3, 4-4 औरतों से शादी करते हैं, इसलिए मुस्लिम ज़्यादा बच्चे पैदा करते हैं। यह एकदम मूर्खतापूर्ण बात है। प्रकृति में लड़का और लड़की के पैदा होने का अनुपात 51 लड़कियों के पीछे 49 लड़के है, मतलब लगभग 50-50 प्रतिशत। इसलिए किसी समुदाय में बच्चे पैदा होने की दर मोटे तौर पर उस समुदाय में बच्चा पैदा करने की उम्र वाली औरतों की संख्या पर निर्भर करती है। दूसरा, अगर किसी समुदाय में एक आदमी चार औरतों से शादी करता है तो तीन आदमियों को शादी के बिना रहना होगा। इस तरह बच्चा पैदा करने के लिए बनने वाले जोड़ों की संख्या उतनी ही रहेगी। उल्टा अगर एक आदमी चार-चार औरतों से शादी करता है तो बच्चा पैदा होने की दर एक आदमी-एक औरत वाली शादियों से कम होगी। अब देखें तथ्य क्या कहते हैं? भारत में एक से ज़्यादा औरतों से शादी करने का प्रतिशत हिन्दुओं में 5.8 प्रतिशत है, जबकि मुसलमानों में 5.73 प्रतिशत है। वैसे भी आँख का अंधा और कान से बहरा आदमी भी यह आराम से समझ सकता है कि आज के महँगाई तथा बेरोजगारी के समय में 4-4 पत्नियाँ और 25-25 बच्चे पालना कितना संभव है। असल में संघी फ़ासीवादी इस्लाम धर्म में एक से ज़्यादा औरतों से शादी की अनुमति होने वाली बात को आधार बनाकर यह सारा झूठा प्रचार करते हैं और तर्क तथा तथ्य की बात बिलकुल नहीं करते क्योंकि यही वो चीजें हैं जो संघियों को नंगा करती है। सभी धर्मों में अनेकों ऐसी बातें हैं जो किसी समय में हालात के कारण समाज में प्रचलित हुई मगर अब प्रासंगिकता खो चुकी हैं और अब या तो कर्मकाण्ड बन चुकी हैं, या फिर उस धर्म के अमीरों तथा पुरुषवर्चस्वकारी सोच के लिए गरीबों तथा औरतों के दमन का हथियार बन चुकी हैं। इस्लाम में एक से ज़्यादा औरतों से शादी वाली बात भी ऐसी ही है। इसका प्रचलन संभवतः तब हुआ जब इस्लाम मुख्य रूप से उन कबीलों का धर्म था जो दूसरे कबीलों से लगातार लड़ते रहते थे जिसके चलते कबीलों में मर्दों की संख्या औरतों की संख्या

(पेज 10 पर जारी)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधीपुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006